आखिरी पड़ाव का दु:ख

(कहानी संग्रह)

लेखक

सुभाष नीरव



भावना प्रकाशन, दिल्ली.110091

I.S.B.N. : 978-81-7667-202-3

मूल्य : 150.00 रुपये ।

प्रकाशक : भावना प्रकाशन
109-ए, पटपड़गंज, दिल्ली-110091
दूरभाष : 011-22756734

प्रथम संस्करण : सन् 2007

शब्द संयोजन : पंकज ग्राफिक्स, दिल्ली-92

आवरण परिकल्पना : राजकमल

मुद्रक : पाराशर प्रिंटर्स, सीलम पुर, दिल्ली-110053

Aakhiri Padav ka Dukh by Subhash Neerav

आख़िरी पड़ाव का दुःख
सुभाष नीरव की कहानियाँ

मित्र रूप सिंह चन्देल
एवं
बलबीर माधोपुरी
के नाम....

लेखक की ओर से...

मेरा पहला कहानी-संग्रह "दैत्य तथा अन्य कहानियाँ" वर्ष 1990 में प्रकाशित हुआ था और दूसरा कहानी-संग्रह "औरत होने का गुनाह" वर्ष 2003 में। बीच में लगभग 13 वर्ष का एक लम्बा अंतराल रहा। इस लम्बे अंतराल के जहाँ कई कारण रहे, उनमें एक प्रमुख कारण यह रहा कि अपने मौलिक लेखन से अधिक मैं अनुवाद की ओर उन्मुख हो गया था। पंजाबी भाषा के श्रेष्ठ साहित्य- कहानी, उपन्यास, लघुकथा, आत्मकथा और कविता- का प्रचुर मात्रा में हिन्दी अनुवाद इसी अवधि में किया। अनुवाद कार्य अभी भी जारी है लेकिन अपने मौलिक लेखन में इधर मैंने किसी प्रकार का गतिरोध नहीं आने दिया। कहानियाँ, लघुकथाएँ (और कविताएँ भी) निरंतर लिखता रहा हूँ, यद्यपि इसकी गति कभी तेज नहीं हो पाई, धीमी ही रही। अपनी कहानियों के बारे में अपनी ओर से 'कुछ कहना' मुझे कभी अच्छा नहीं लगा। कहानियाँ लिखने के बाद पाठकों के लिए छोड़ दीं। आखिर, अच्छी या बुरी का फैसला तो उन्हें ही लेना होता है। "आखिरी पड़ाव का दु:ख" मेरा तीसरा कहानी-संग्रह पाठकों के सम्मुख है। इस संग्रह की कहानियों के बारे में मैं अपनी ओर से कोई टिप्पणी नहीं करना चाहता। ये कहानियाँ स्वयं पाठक से संवाद रचाएंगी और अपने बारे में बताएंगी।

इस भूमिका के बहाने मैं अपने उन कुछेक अंतरंग लेखक मित्रों को याद कर लेना ज़रूरी समझता हूँ, जिन्होंने न केवल समय-समय पर मेरी कहानियों को लेकर चर्चा की, बल्कि किसी भी

दंद-फंद से अलग बैठे मेरे जैसे लेखक का उत्साहवर्धन भी करते रहे। इनमें रूप सिंह चन्देल, बलराम अग्रवाल, सुरेश यादव, सुश्री अलका सिन्हा, बलबीर माधोपुरी(पंजाबी कवि) और बलविंदर सिंह बराड़(पंजाबी कथाकार) प्रमुख हैं।

यहाँ श्री सतीश चन्द्र मित्तल, भावना प्रकाशन(दिल्ली) का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे इस कहानी-संग्रह को प्रकाशित कर आप तक पहुँचाने का बीड़ा उठाया।

- सुभाष नीरव

अनुक्रम

आवाज़

पापा को कहीं बाहर जाना था। कल रात दुकान से लौटकर पापा ने बस इतना ही कहा कि वह सुबह सात बजे वाली ट्रेन पकडेंग़े और परसों लौटेंगे, कुछ लोगों के साथ। यह सब बोलते समय पापा का स्वर कितना ठंडा था। ऐसा लगा, जैसे कुछ छिपा रहे हों।

सुबह वह पापा से पहले उठ गई। पापा को जगाया और खुद काम में लग गई। पापा अमूमन छह-साढ़े छह बजे तक उठ जाया करते हैं। जब तक वह नहा-धोकर तैयार होते हैं, वह सारा कामकाज निपटा चुकी होती है। पापा आठ बजे तक निकल जाया करते हैं- दुकान के लिए। नौ बजे तक वह भी कालेज के लिए निकल पड़ती है। पिंकी का स्कूल उसके रास्ते में पड़ता है, इसलिए रोज उसे अपने साथ लाती-ले जाती है वह।

आज छुट्टी का दिन है। छुट्टी के दिन वह खुद को बहुत अकेला महसूस करती है। अकेलेपन का अहसास न हो, इसलिए वह खुद को घर के हर छोटे-मोटे काम में जानबूझकर उलझाये रखती है।

पापा के चले जाने के बाद उसने पूरे मन से घर की साफ-सफाई की। खिड़की-दरवाजों के पर्दे धोकर सूखने के लिए डाल दिए। दीवारों पर की धूल को झाड़ा-पोंछा और खिड़कियों के शीशे चमका दिए। और तो और, सीलिंग-फैन को भी साफ कर दिया है और सेल्फ में इधर-उधर बिखरी पड़ी पुस्तकें भी करीने से सजा दी हैं।

कल 'कुछ लोग' आ रहे हैं, पापा के साथ। 'कुछ लोग...' उसके पूरे शरीर में सिहरन-सी दौड़ गई यह सोचकर। क्षणांश, उसके तन और मन

में गुदगुदी-सी हुई और दूसरे ही क्षण भय और घबराहट। ह्रदय की धड़कनें बढ गईं।...

कैसे वह उन लोगों के सम्मुख जा पाएगी ? वे क्या-क्या प्रश्न करेंगे उससे ? पहला अवसर है न... वह तो एकदम नर्वस हो जाएगी। मम्मी जीवित होती तो बहुत सहारा मिल जाता। उसकी सहेली सुमन ने ऐसे अवसरों के कितने ही किस्से एकान्त में बैठकर सुनाये हैं उसे। उन किस्सों की याद आते ही उसका दिल घबराने लगता है। कैसे अजीब-अजीब से प्रश्न पूछते हैं ये लोग ! एजूकेशन कहाँ तक ली है ? सब्जेक्ट्स क्या-क्या थे ? यह विषय ही क्यों लिया ? खाना बनाने के अलावा और क्या-क्या जानती हो ? फिल्म देखती हो ? कितनी ? कैसी फिल्में अच्छी लगती हैं ? वगैरह-वगैरह। अच्छा-खासा इंटरव्यू ! उत्तर 'हाँ' 'न' में नहीं दिया जा सकता। कुछ तो बोलना ही पड़ता है। शायद, मंशा यह रहती हो कि लड़की कहीं गूंगी तो नहीं, हकलाती तो नहीं। लड़की को जानबूझकर इधर-उधर बिठाएंगे-उठाएंगे, उसकी चाल परखेंगे। कहीं पांव दबाकर तो नहीं चलती ? यानी हर तरह से देखने की कोशिश की जाएगी।

कई दिनों से पापा कुछ ज्यादा ही परेशान से नज़र आते हैं। कहते तो कुछ नहीं, पर उनकी चुप्पी जैसे बहुत कुछ कह जाती है। सुबह पापा के कमरे में अधजली सिगरेटों का ढेर देखकर वह हैरत में पड़ जाती है। पहले तो पापा इतनी सिगरेट नहीं पीते थे !... लगता है, पापा रात भर नींद से कशमकश करते रहते हैं। रातभर जूझते रहते हैं अपने आप से, अपनी अन्तरंग परेशानियों से।

लेकिन, उसे लेकर अभी से इतना परेशान होने की क्या ज़रूरत है? भीतर ही भीतर घुटते रहने की क्या आवश्यकता है ? क्या पापा अपनी चिन्ता को, अपनी परेशानियों को उससे शेयर नहीं कर सकते ? वह जवान होने पर क्या इतनी परायी हो गई है ? इस तरह के न जाने कितने प्रश्न उसके अंदर धमाचौकड़ी मचाये रहते हैं आजकल।

पापा ऐसे न थे। कितना बड़ा परिवर्तन आ गया है, पापा में अब। मम्मी की मौत ने उन्हें भीतर से तोड़कर रख दिया है जैसे। कितने हँसमुख थे पहले ! इस घर में कहकहे गूँजते थे उनके ! दुकान पर भी ज्यादा नहीं बैठते थे। जब-तब किसी न किसी बहाने से घर आ जाया करते थे। प्यार से उसे 'मोटी' कहा करते थे। मम्मी से अक्सर कहा करते- "देखो, बिलकुल तुम्हारी तरह निकल रही है। जब तुम्हें ब्याहकर लाया था, तुम ठीक ऐसी ही थीं।..."

मम्मी पहले तो लज्जा जातीं, फिर नाराजगी जाहिर करते हुए कहतीं, "यह क्या हर समय मेरी बेटी को 'मोटी-मोटी' कहा करते हो ? नाम नहीं ले सकते ?"

मम्मी की याद आते ही उसकी आँखें भीग गईं। कितना चाहती थीं उसे ! जवानी की दहलीज पर पांव रख ही रही थी कि यकायक उसने मम्मी को खो दिया। वह दिन उसे भूल सकता है क्या ?... नहीं, कदापि नहीं। वह दृश्य उसकी आँखों के सामने अब भी तैर जाता है। ज़िन्दगी और मौत के बीच संघर्ष करती मम्मी। मम्मी मरना नहीं चाहती थी और मौत थी कि उन्हें और जिन्दा नहीं रहने देना चाहती थी। ऐसे दर्दनाक क्षणों में मम्मी को उसी की चिन्ता थी। आखिरी सांस लेने से पहले मम्मी ने पापा से कहा था- "देखो, सुमि को अच्छे घर ब्याहना। मेरी परी-सी बेटी का राजकुमार-सा दूल्हा हो।"

पापा ने शायद तब पहली बार महसूस किया होगा कि उनकी बेटी जवान हो रही है। उसके लिए अच्छा-सा वर ढूँढ़ना है। और शायद तभी से पापा की खोज जारी है।

पापा का उदास, चिन्तित चेहरा कभी-कभी उसे भीतर तक रुला देता है। ऐसे में, दौड़कर पापा की छाती से लिपट जाने और यह कहने की इच्छा होती है कि पापा, मैं अभी शादी नहीं करुँगी। अभी तो मैं बहुत छोटी हूँ।... लेकिन, कहाँ कह पाती है यह सब। पापा और उसके बीच, मम्मी की मौत के बाद जो खाई उभर आई है, चुप्पियों से भरी, उसे वह

मिटा नहीं पाती। क्या जवान होने का अहसास, बाप-बेटी के बीच इतनी खाइयाँ पैदा कर देता है ! बस, वह सोचती भर रह जाती है यह सब।

"मैं जल्दबाजी में कुछ नहीं करना चाहता।" पापा का अस्फुट-सा स्वर।

"ठीक है, आप अच्छी तरह सोच लें।" बिचौलियानुमा व्यक्ति की आवाज़।

"..."

"पर, निर्णय तो आपको ही करना है, दुनिया का क्या है ?"

दबी-दबी ज़ुबान में होतीं इस प्रकार की बातों के कुछ टुकड़े बगल के कमरे में बैठे हुए या किचन में चाय तैयार करते समय उसके कानों में अक्सर पड़ते रहते हैं। पिछले कुछ महीनों से इन लोगों का आना-जाना बढ़ा है। कौन है ये लोग, वह नहीं जानती।

पिछले कई दिनों से पापा कई बार मौसी और मामा के घर आये-गए हैं। जितनी जल्दी-जल्दी उनके यहाँ आना-जाना हुआ है पिछले दिनों, पहले नहीं होता था। पापा क्यों आजकल बार-बार मौसी और मामा के यहाँ आते-जाते हैं ? आखिर, बेटी का मामला ठहरा। कोई कदम उठाने से पहले वह अपने से बड़ों की राय ले लेना चाहते हैं शायद। लेकिन, यह भी सही है, पापा जब-जब मौसी और मामा के घर से लौटे हैं, ज्यादा ही थके और मायूस-से लौटे हैं।

कभी-कभी वह सोचती है, अभी तो इण्टर ही किया है उसने। घर का सारा कामकाज उसी के कंधों पर है। पिंकी की देखभाल भी उसे ही करनी पड़ती है। मम्मी की मौत के समय तो वह बहुत छोटी थी। वही उसके लिए सब कुछ है- मम्मी भी, दीदी भी।

वह चली जाएगी तो कौन करेगा घर का सारा काम ? पापा तो दुकान पर रहते हैं, सारा-सारा दिन। शायद, तब कोई आया रख लें। पर, ऐसे में पिंकी की पढ़ाई, उसकी देखभाल, उसका विकास क्या सही ढंग से

हो पाएगा ? क्या सोचकर पापा इतनी जल्दी मचा रहे हैं ? शायद, लड़के वाले जल्दी में हों और पापा को लड़का जँच गया हो।

मन में उठते जाने कितने ही प्रश्नों के उत्तर वह खुद ही गढ़ लेती है और उनसे संतुष्ट भी हो जाती है। लेकिन, जवान होती उम्र के साथ-साथ दिल में उमंगों का ज्वार कभी-कभी इतनी जोरों से ठाठें मारने लगता है कि वह ज़मीन से उठकर आकाश छूने लगती है। अकेले बैठे-बैठे वह सपनों की रंगीन दुनिया में पहुँच जाती है। लड़कियाँ शायद इस उम्र में ऐसे ही स्वप्न देखती हैं। अपने सपनों के राजकुमार की शक्ल आसपास के हर जवान होते लड़के से मिलाती हैं। उनका हर स्वप्न पहले से ज्यादा हसीन और खूबसूरत होता है। आसपास गली-मोहल्ले में कहीं बारात चढ़ेगी तो दौड़कर बारात देखने में आगे रहेंगी। और तो और, घोड़ी पर सवार किसी के सपनों के राजकुमार से अपने-अपने सपनों के राजकुमार की तुलना करेंगी। हर बार उन्हें अपने सपनों का राजकुमार अधिक हसीन नज़र आता है। तन-मन को एक सुख गुदगुदाता हुआ बह जाता है। ऐसा सुख जो न अपने में ज़ज्ब किए बनता है और न ही किसी से व्यक्त किए। ऐसे में, किसी अन्तरंग साथी की, मित्र की, बेइंतहा ज़रूरत महसूस होती है।

आजकल उसके साथ भी तो ठीक ऐसा ही हो रहा है। जब कभी वह खाली होती है, स्वयं को ऐसे ही सपनों से घिरा हुआ पाती है। उसे लगता है, वह गली-मोहल्ले की औरतों से, अपनी सखियों से घिरी बैठी है, शरमायी-सी ! हथेलियों पर मेंहदी की ठंडक महसूस हो रही है। ढोलक की आवाज़ के साथ-साथ गीतों के बोल उसके कानों में गूँजते हैं-

बन्ने के सर पे सेहरा ऐसे साजे
जैसे सर पे बांधें ताज, राजे-महाराजे
लाडो ! तेरा बन्ना लाखों में एक
काहे सोच करे...।

और तभी उसे मम्मी की याद आ जाती है। सपनों के महल जादू की तरह गायब हो जाते हैं। उसके इर्द-गिर्द गीत गातीं, चुहलबाजी करती स्त्रियाँ नहीं होतीं, खामोश दीवारें होती हैं। चुप्पियों से भरा कमरा होता है। सामने, ठीक ऑ खों के सामने, टेबुल पर रखा मम्मी का मुस्कराता चित्र

होता है। बेजान ! वह उठकर मम्मी का चित्र अपने सीने से लगा लेती है। भीतर ही भीतर कोई रो रहा होता है उसके। मम्मी के बोल फिर एकबारगी हवा में तैरने लगते हैं- "सुमि को अच्छे घर ब्याहना। मेरी परी-सी बेटी का राजकुमार-सा दूल्हा हो।"

आज पापा को लौटना है। कुछ लोगों के साथ। जाने कब लौट आएं। न पिंकी को स्कूल भेजा है, न ही वह खुद कालेज गई है। पिंकी को और खुद को तैयार करने में जितना अधिक समय उसने आज लगाया, पहले कभी नहीं लगाया। जितनी देर आइने के सामने बैठी रही, खुद के चेहरे में मम्मी का चेहरा ढूँढ़ती रही। साड़ी में कितनी अच्छी लगती है वह ! आज उसने मम्मी की पसन्द की साड़ी पहनी है- हल्के पीले रंग की। साड़ी पहनते समय उसे लगा, जैसे मम्मी उसके आस-पास ही खड़ी हों। जैसे कह रही हों- "नज़र न लग जाए तुझे किसी की !"

रह-रहकर उसका दिल जोरों से धड़कने लगता है।

शाम के चार बजे हैं। बाहर एक टैक्सी के रुकने की आवाज ने उसके हृदय की धड़कन तेज कर दी है। धक्...धक्... धड़कनों की आवाज़ कानों में साफ सुनाई देती है। पिंकी दौड़कर, खोजती हुई-सी उसके पास आई और फिर चुपचाप बिना कुछ कहे-बोले बैठक में चली गई। उसकी सहमी-सहमी ऑंखों में कौतुहल साफ दिखाई दे रहा था। बगल के कमरे में होने के बावजूद उसने हर क्षण के दृश्य को अपनी ऑंखों से पकड़ने की कोशिश की।...

पापा की आवाज़ उसे स्पष्ट सुनाई देने लगी। कैसे हँस-हँसकर बातें कर हैं पापा ! पापा की आवाज़ में अचानक हुए इस परिवर्तन को देख वह चौंक गई। बिलकुल वैसी ही आवाज़ ! जैसी मम्मी के रहते हुआ करती थी। उसके चेहरे पर एकाएक खुशी की एक लहर दौड़ गई। कब से तरस रही थी वह, पापा की इस आवाज़ के लिए।

पापा ने सहमी-सहमी-सी खड़ी पिंकी को शायद गोद में उठा लिया है। प्यार से चूमते हुए बोले हैं, "यह है हमारी पिंकी बिटिया...।"

"अरे बेटे, तुमने किसी को नमस्ते नहीं की ?... नमस्ते करो बेटे... अच्छा इधर देखो... ये कौन है ?...   ये हैं... तुम्हारी... नई मम्मी...।"

नई मम्मी !

वह स्तब्ध रह गई।

सहसा, उसे लगा कि वह हवा में उड़ रही थी और अभी-अभी किसी ने उसके पर काट दिए हैं। वह ज़मीन पर आ गिरी है-धम्म् से ! इसकी तो उसने कल्पना तक न की थी !

उसकी समझ में कुछ नहीं आया। धराशायी हुए सपनों पर आँसू बहाये या अपनी नई मम्मी को पाकर खुश हो ! एकाएक, उसने खुद को संभालने की कोशिश की और अगले क्षणों के लिए स्वयं को तैयार करने लगी। यह सोचकर कि न जाने कब पापा उसे बुला लें, नई मम्मी से मिलवाने के लिए !

अब उसके कान पापा की आवाज़ का इन्तज़ार कर रहे थे।

अन्ततः

उसके चेहरे पर भय की रेखाएं खिंच आई थीं और वह हाँफ रहा था। बेतहाशा भागते हुए उसने यह देखने-जानने की कोशिश नहीं की थी कि वह कहाँ और किस रास्ते पर दौड़ रहा है। जहाँ, जिस तरफ रास्ता मिला, वह उसी ओर दौड़ता रहा...दौड़ता रहा और अब आगे गली बन्द थी।

उसने तेजी से इधर-उधर देखा और वहीं कहीं छिपने की जगह तलाश करने लगा। जल्द ही, उसकी निगाह गली के आखिरी मकान पर पड़ी। वह भीतर घुसा। गर्मियों की दोपहरी का सन्नाटा मकान के अहाते में पसरा हुआ था। अहाते के बायीं ओर की दीवार से सटकर मुर्गियों का दड़बा था। उसी से लगकर कुछ आड़-कबाड़ रखा हुआ था। इसी आड़-कबाड़ में दो टीन की पुरानी चादरें दीवार से इस तरह सटाकर रखी हुई थीं कि दीवार और उनके बीच कुछ जगह बन गई थी। उसने अब आगे कुछ नहीं सोचा और तेजी से वह उसी में छिपकर बैठ गया- दम साधे !

कुछेक पल ही बीते होंगे कि बाहर हल्का-सा शोर होता सुनाई दिया। शोर धीरे-धीरे करीब और तेज होता गया।

"कहाँ गया साला..."

"इधर नहीं आया शायद।"

"नहीं, इधर ही देखा था भागते..."

स्वर झल्लाये और खीझे हुए थे। शोर सुनकर उसकी आँखें खुद-ब-खुद मुंद गईं और वह मन ही मन ईश्वर को याद करने लगा।

काफी देर बाद उसने महसूस किया कि वे लोग चले गए हैं। फिर भी, अभी बाहर निकलना उसे खतरनाक लगा। वह कुछ देर और वहीं दुबककर बैठा रहा।

कुछ पल बाद ही उसने वहाँ से निकलना बेहतर समझा, क्योंकि यहाँ भी अधिक देर बैठना खतरे से खाली नहीं था। घर के अंदर से किसी के निकलकर इधर ही आ जाने का डर था। हो सकता था, उसे यूँ छिपा हुआ देख वह चिल्ला उठे या पूछताछ आरंभ कर दे।

वह वहाँ से उठकर बाहर निकल आया- गली में। गली सुनसान पड़ी थी। वह बहुत चौकन्ना होकर आगे बढ़ने लगा। हर मोड़ से पहले वह रुकता, स्थिति का जायजा लेता और इत्मीनान हो जाने पर तेजी से मुड़ जाता।

अब वह सड़क पर था।

दूर-दूर तक वे कहीं नहीं दिख रहे थे। वे लोग जो उसके पीछे भागे थे। उसने महसूस किया कि उसकी साँसें अभी भी तेज-तेज चल रही थीं और सीने में धुकधुकी मची थी।

वह तेज कदमों के साथ मुखर्जी रोड पर हो लिया।

यह उसका पहला अवसर था। इससे पहले उसने ऐसा कभी नहीं किया था। घर से निकला था, दूबे जी के स्कूल गया था। वहाँ से बस-स्टॉप तक उसके दिमाग में यह कतई नहीं था कि वह ऐसा करेगा ! करना तो दूर, इसकी कल्पना तक नहीं की थी उसने। यह सब कैसे, किस प्रेरणा से अकस्मात् हुआ, वह खुद अचम्भित था।

किसी से मालूम हुआ था कि गली नम्बर दो के दूबे जी ने एक छोटा-सा स्कूल खोला है। उन्हें एक मास्टर की तत्काल ज़रूरत है। 'समथिंग इज बेटर दैन नथिंग' वाली बात सोचकर वह आज सुबह-सुबह ही दूबे जी से उनके स्कूल में मिला था। जब वह पहुँचा, दूबे जी खुद ही बच्चों को पढ़ा रहे थे। कोई पचास-साठ बच्चे थे।

"हाँ, ज़रूरत तो है भई, एक मास्टर की।" दूबे जी ने उसे बैठने के लिए कहकर अपने चश्मे का शीशा साफ करते हुए कहा, "पर छह सौ रुपये से अधिक नहीं देते हम।"

चश्मा ऑंखों पर चढ़ाकर दूबे जी ने उसकी ओर एकटक देखा और फिर पहचानते हुए-से बोले, "तुम... तुम रामप्रकाश जी के बड़े लड़के तो नहीं ?"

"जी..." उसके मुँह से बस इतना ही निकला।

"बड़े नेक आदमी हैं। मैं उन्हें अच्छी तरह से जानता हूँ।" दूबे जी अब तक अपनी कुर्सी पर बैठ चुके थे।

उसे लगा, उसका काम बन जाएगा। कुछ न होने से तो छह सौ रुपये ही ठीक। घर से अधिक दूर नहीं है स्कूल कि आने जाने में किराया खर्च होगा, पैदल ही आना-जाना हो जाएगा। और फिर कौन-सा हमेशा यहीं पढ़ाते रहना है। अच्छी नौकरी मिलते ही इसे छोड़ देगा।

दूबे जी कुछ सोचते हुए-से बोले, "कम्मो तुम्हारी ही बहिन है ?"

"जी।" इस प्रश्न पर वह थोड़ा चौंका।

"बड़ी अच्छी लड़की है।" दूबे जी ने तारीफ की। वह चुपचाप सुनता भर रहा। एकाएक, दूबे जी बोले, "ऐसा क्यों नहीं करते, तुम कम्मो से कहो, वह बच्चों को पढ़ा दिया करेगी। वैसे भी वह घर में खाली पड़ी रहती होगी। समय भी कट जाया करेगा और कुछ आर्थिक मदद भी हो जाया करेगी, घर की।"

उसने सामने बैठे दूबे जी की आँखों में झांका। आँखों से परे उनके दिल में झांका। वहाँ एक स्वार्थी, लोभी, कामुक व्यक्ति दिखाई दे रहा था। कम्मो हाई-स्कूल पास थी। वह भी थर्ड-डिवीजन से और वह ग्रेजूएट था- थ्रू आउट फर्स्ट क्लास ! पर कम्मो लड़की थी और वह लड़का।

"तुम तो ब्रिलियेंट लड़के हो। थ्रू आउट फर्स्ट क्लास रहे हो। कहीं न कहीं तो जॉब मिल ही जाएगा। यहाँ मेरे स्कूल में छह सौ रुपल्ली की नौकरी कर क्यों अपना केरियर खराब करते हो...।" दूबे जी ने समझाने के अन्दाज में कहा। सहसा, वह आगे की ओर झुक आए और धीमी आवाज में बोले, "तुम... तुम कहो तो कम्मो को सात सौ दे दिया करूँगा।"

उस लगा, उसके अंदर कुछ खोलने लगा है। उसने एक बार मेज पर रखे पेपरवेट की ओर देखा और फिर दूबे जी की खोपड़ी की ओर। दूबे जी अभी भी उसकी ओर नज़रें गड़ाये थे।

वह कुछ कर पाता, इससे पहले ही वह वहाँ से उठकर बाहर आ गया। बाहर आकर उसने पिच्च् से थूका। थूकते वक्त उसे लगा, उसने ज़मीन पर नहीं मानो दूबे के चेहरे पर थूका हो।

बस-स्टॉप पर खड़ा वह अपने घर की दिन-प्रतिदिन दयनीय होती जाती स्थिति के विषय में सोच रहा था। अपनी बेकारी के बारे में सोच रहा था। दो वर्षों से वह निरन्तर सड़कें नाप रहा है। कई जगह एप्लाई किया। कई जगहों पर इंटरव्यू भी दिया। पर उसकी किस्मत के बन्द दरवाजे खुलने का नाम ही नहीं ले रहे थे। कहीं सोर्स तो कहीं रिश्वत आड़े आ जाती।

अभी कुछ दिन पहले की ही तो बात है...

शहर की मशहूर गुप्ता एंड कम्पनी में क्लर्क की जगह खाली थी। उसने वहाँ खुद जाकर दरख्वास्त लगाई। दरख्वास्त लेने वाले व्यक्ति जिसे बार-बार अपनी नाक के बाल नोंचने की आदत थी, ने सवाल फेंका था- "कहीं काम किया है ?" जिसका जवाब था- नहीं। दूसरा सवाल जैसे पहले से ही तैयार था, "किसी की सोर्स है ?" इसका भी जवाब था- नहीं। एक ही तरह के जवाब पाकर वह बौखला गया, "फिर यहाँ क्या करने आए हो?... बेकार है बेकार...जाओ कहीं ओर जाओ...।"

उसने उस व्यक्ति को अपने सभी प्रमाणपत्र दिखाते हुए कुछ कहने की कोशिश की। लेकिन वह व्यक्ति झल्ला उठा और उसके सभी प्रमाणपत्रों को एक ओर करते हुए लगभग चीखा, "अरे भई, जानता हूँ, तुम ग्रेजूएट हो... थ्रू आउट फर्स्ट क्लास रहे हो... बी.ए. आनर्स में किया है... यही न! पर आजकल इनको कौन पूछता है। भले ही तुम यहाँ एप्लाई करो, पर रखा तो वही जाएगा, जिसकी सोर्स होगी या जो... जो..." कहते-कहते वह रुक-सा गया और फिर अपनी नाक के बाल नोंचने लगा।

कुछेक पल इधर-उधर देखने के बाद वह बोला, "जो... जो जेब गरम करने की हैसियत रखता हो। यहाँ तो यही होता है भई। होता आया है, और होता रहेगा। यहाँ क्या, सभी जगह होता है। समझे न !"

और फिर वह अपने काम में जुट गया। वह थोड़ी देर तक उस व्यक्ति के पास खड़ा-खड़ा सोचता रहा। आखिर, उसने धीमे से पूछ ही लिया, "भाई साहब, यह जेब कितने तक में गरम हो जाती है।"

उस व्यक्ति ने एकबारगी उसे ऊपर से नीचे तक देखा और फिर आहिस्ता से बोला, "ढाई हजार रुपये की नौकरी है, है न ? इससे दुगने से कम में क्या जेब गरम होगी। और फिर, एक ही की जेब में तो जाता नहीं, बंटता है सब। समझे न !"

इतने रुपयों के इंतजाम की बाबत पिता से कहना फिजूल था। वह उनकी प्रतिक्रिया से बखूबी वाकिफ़ था। पिता वही संवाद जोर-जोर से चिल्लाने लगेंगे जिसे सुनते-सुनते उसके कान पकने लगे हैं, "कहाँ से लाऊँ इतने रुपये ?... खुद को बेच दूँ या डाका डालूँ ?... चोरी करुँ?..." चीखते समय उनके मुँह से झाग निकलने लगेगा और नथुने फूलने लगेंगे।

पिता की ऐसी प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही है। वह तीन-तीन जवान होती लड़कियों का बाप भी है। बड़ी की शादी के लिए फंड के पैसे के अलावा और कोई पैसा उसके पास नहीं है। पत्नी है, जो सदैव बीमार रहती है और जिसकी दवा-दारू के लिए हर महीने काफी पैसा डाक्टर को चला जाता है। बेटे को जैसे-तैसे पेट काटकर पढ़ाया है। वह खुद देख रहा है, पिता दिन-रात परिवार की चिन्ता में कमजोर होते जा रहे हैं। अपनी सामर्थ्य में जितना होता है, करते हैं। घर की हालत बद से बदतर होती जा रही है। समय से पहले ही राशन-पानी खत्म हो जाता है। और महीने के आखिरी दिनों में तो फाकों की-सी स्थिति रहती है।

वह खुद चाहता था कि उसे छोटी-मोटी ही नौकरी मिल जाए जिससे घर का छुट-पुट खर्च वह सम्भाल ले। पर उसे लगता है, दूर-दूर तक फैला बेकारी का मरुस्थल कभी खत्म नहीं होगा शायद।

बस-स्टॉप पर खड़े-खड़े वह यही सब सोच रहा था। सहसा, उसने अपने पास वाले व्यक्ति की ओर देखा। वह व्यक्ति जेब में से बटुआ निकालकर छुट्टे पैसे निकाल रहा था। बटुए में सौ और पाँच सौ के नोट थे। कितने होंगे, पता नहीं। नोटों को देखते ही उसे ढाई हजार रुपये की नौकरी याद हो आई। फिर, घर की दयनीय हालत... जवान बहनें... अपनी बेकारी...बीमार माँ... असहाय पिता... और... तभी बस आ गई। जाने कब और कैसे उसका हाथ भीड़ में बस पर चढ़ रहे उस आदमी की पिछली जेब पर चला गया। बस, फिर एक शोर मचा और वह उस आदमी की गिरफ्त

में था। लोगों का हुजूम उस पर टूट पड़ा था। और वह जाने कैसे लोगों की टांगों के बीच से होता हुआ जिधर भी रास्ता मिला, तेजी से उसी ओर दौड़ पड़ा था।

अगर वह पकड़ा जाता... सोचते ही उसे कंपकंपी छूट गई।

चलते-चलते उसने देखा, वह शहर के बीचोंबीच पहुँच गया था। आसपास बड़ी-बड़ी इमारतें थीं। दफ्तर थे। दुकानें थीं।

वह सड़क के चौराहे के बीच बने पॉर्क की ओर बढ़ा और हरी घास पर लेट गया। थोड़ी ही देर बाद उसे नींद आ गई। जब उसकी ऑंखें खुलीं तो सामने बहुमंजिला इमारत के पीछे सूरज छिपने की तैयारी कर रहा था। वह घास पर से उठकर फर्श पर सीढ़ियों से लगकर बैठ गया।

अचानक, उसे याद आया कि आज तो मंगलवार है। उसके जेहन में यह बात तेजी से उभरी कि आज वह ज़रूर बजरंग बली की कृपा से ही पकड़े जाने से बाल-बाल बचा है। जाने कहाँ से एक ताकत उसके शरीर में आ गई थी कि वह स्वयं को मजबूत गिरफ्त से छुड़ाते हुए लोगों की भीड़ को चीरता हुआ बिजली की-सी फुर्ती से दौड़ पड़ा था। उसने मन ही मन बजरंग बली को याद किया। बचपन में माँ के कहने पर वह हनुमान चालीसा का पाठ हर मंगलवार किया करता था। माँ उसे बताती थी कि चालीसा पढ़ने से विपत्तियाँ भी रास्ता बदल लेती हैं। एकाएक, उसके हाथों में कुछ हरकत हुई। उसने इधर-उधर देखा और लाल ईंट का छोटा-सा टुकड़ा उठाकर फर्श पर बजरंग बली का चित्र बनाने लगा। चित्र बनाते समय उसकी मन:स्थिति किसी प्रार्थनारत् व्यक्ति-सी रही। चित्र बनाने में वह इतना तल्लीन था कि उसे अहसास ही नहीं हुआ कि उसके आस-पास भीड़ जमा होना शुरू हो गई है ! चित्र अभी पूरा भी नहीं हुआ था कि टन्...टन्... की आवाज हुई और एक सिक्का फर्श पर गिरा। धीरे-धीरे और सिक्के गिरे। चित्र पूरा करके वह वहाँ से उठा और थोड़ा हटकर बैठ गया। उसने देखा, आते-जाते लोग एक क्षण वहाँ रुकते, मन ही मन शायद प्रणाम करते और फिर जेबें टटोलते। 'टन्...न' से एक सिक्का फर्श पर फेंकते और आगे बढ़ जाते।

अंधेरा गहराने लगा था और फर्श पर अब काफी सिक्के इकट्ठा हो गए थे। कुछेक पल वह और इंतजार करता रहा। वह चाहता था कि लोग कम हों

तो वह उठे। कुछ ही देर बाद उसने देखा, दूर-दूर तक कोई दिखाई नहीं दे रहा था। वह फुर्ती से उठा और आनन-फानन में सारे सिक्के उठाकर पेंट की जेब में डाल लिए। खड़े होकर एकबारगी इधर-उधर देखा और आसपास किसी को न पाकर तेजी के साथ पॉर्क से बाहर निकल सड़क पर हो लिया।

अब सड़क पर बत्तियाँ जगमगाने लगी थीं और वह घर की ओर बढ़ रहा था।

दैत्य

वे दिन मेरी बेकारी के दिन थे। मैं इण्टर कर चुका था और नौकरी की तलाश में था। माता-पिता मुझे और आगे पढ़ाने में अपनी असमर्थता प्रकट कर चुके थे। घर में मुझसे बड़ी दो बहनें थीं- विमला और शान्ता। विमला जैसे-तैसे हाई-स्कूल कर चुकी थी लेकिन, शान्ता आठवीं जमात से आगे न बढ़ सकी। माता-पिता वैसे भी, लड़कियों को अधिक पढ़ाने के पक्ष में कतई नहीं थे। उनका विचार था कि अधिक पढ़ी-लिखी लड़कियों के लिए अपनी बिरादरी में वर ढूँढ़ने में काफी मुश्किलें आती हैं।

दोनों बहनें घर के कामकाज में माँ का हाथ बँटाती थीं। उन दोनों की बारियाँ बंधी थीं। सुबह का काम विमला देखती थी, शाम का शान्ता। बीच-बीच में माँ दोनों का साथ देती रहती थी। पड़ोस की अर्पणा आंटी से विमला सिलाई-कढ़ाई सीख चुकी थी और शान्ता अभी सीख रही थी।

पिता एक सरकारी फैक्टरी में वर्कर थे। फैक्टरी में सुबह-आठ बजे से लेकर शाम पाँच बजे तक वह लोहे से कुश्ती लड़ते और शाम को हारे हुए योध्दा की भांति घर में घुसते। पिछले एक साल से फैक्टरी में ओवर-टाइम बिलकुल बन्द था। ओवर-टाइम का बन्द होना, फैक्टरी के वर्करों पर गाज गिरने के बराबर होता था। केवल तनख्वाह में जैसे-तैसे ही खींच-खांचकर महीना निकलता। हमारे घर की आर्थिक स्थिति ठीक न थी बल्कि दिन-ब-दिन और चरमराती जा रही थी। ऊपर से जवान होती लड़कियों और बेकार बैठे लड़के की चिन्ता, ये दो प्रमुख कारण थे जिसके कारण पिता दिन-रात परेशान रहते। चिन्ता में उनका स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा था। धीरे-धीरे उनके शरीर पर से मास गायब हो रहा था और हड्डियाँ उभरने लगी थीं। वह नौकरी से रिटायर होने से पूर्व दोनों लड़कियों की शादी कर देना चाहते थे। ऐसी स्थितियों में उनकी नज़रें मुझ

पर टिकीं थीं और वह कहीं भीतर से आशान्वित भी थे कि उनका बेटा इस विकट स्थिति में उनका सहारा बनेगा और उनके कंधों पर पड़े बोझ को कुछ हल्का करेगा। मैं उनकी ऑंखों में तैरती अपने प्रति उम्मीद की किरणों को ना-उम्मीदी के अंधेरों में तब्दील नहीं होने देना चाहता था। इसीलिए मैं उस समय किसी भी तरह की छोटी-मोटी नौकरी के लिए तैयार था। लेकिन, नौकरी पाना इतना आसान नहीं था। बेकारी के मरुस्थल में भटकते हुए मुझे एक साल से भी ऊपर का समय होने जा रहा था, पर कहीं से भी उम्मीद की हल्की-सी भी किरण दूर-दूर तक नज़र न आती थी।

मेरे सामने जो बड़ी दिक्कत थी, वह यह कि घर पर कोई अखबार नहीं आता था। पड़ोस में मैं किसी के घर बैठकर अखबार पढ़ना नहीं चाहता था। दरअसल, मैं हर उस सवाल से बचना चाहता था जिसे हर कोई मुझे देखकर मेरी तरफ उछाल देता था, "क्यों ? कहीं लगे या अभी यूँ ही..." इस सवाल का नकारात्मक उत्तर देते हुए मुझमें हीनता का बोध पैदा हो जाता और मुझे लगता, मैं एक बेकार, आवारा, फालतू, निकम्मा लड़का हूँ जिसे अपने बुढ़ाते बाप पर ज़रा भी तरस नहीं आता... उस जैसे लड़के तो ऐसी स्थिति में माँ-बाप का सहारा बनते हैं और एक मैं हूँ कि...

अखबार के लिए मैं सुबह नौ-दस बजे तक घर से निकल पड़ता। दो-एक किलोमीटर पर बने पनवाड़ी के खोखों पर पहुँच हिचकते हुए अखबार उठाता। एक पर हिन्दी का अखबार देखता तो दूसरे पर अंग्रेजी का। अखबार कोई दूसरा पढ़ रहा होता तो मुझे इंतजार भी करना पड़ता। अखबार में से 'सिच्युएशन वेकेंट' के कालम देखता, कागज पर नोट करता और पोस्ट आफिस जाकर एप्लीकेशन पोस्ट करता।

ठीक इन्हीं दिनों पिता का परिचय राधेश्याम से हुआ था। राधेश्याम एक ठेकेदार था जो सरकारी, गैर-सरकारी कारखानों से तरह-तरह के ठेके लिया करता था। सन् 47 के विभाजन में पिता लाहौर के जिस गाँव से अपना सबकुछ गवां कर भारत आए थे, राधेश्याम भी उसी के आस-पास के इलाके का था। यही कारण था कि पिता उसमें दिलचस्पी लेने लगे थे और एक दिन राधेश्याम को अपने घर पर ले आये थे। जीप जब हमारे सरकारी क्वार्टर के बाहर आकर रुकी तो वह मौहल्ले के बच्चों के लिए

कौतुहल का विषय थी। आस-पड़ोस वालों के लिए आँखें फाड़कर देखने की चीज- खैरातीलाल और उसके घर के बाहर जीप !

पिता ने राधेश्याम से अपने बच्चों का परिचय कराया था, "ये हैं मेरी दोनों लड़कियाँ- विमला और शान्ता। और यह है मेरा बेटा सुशील... अभी पिछले साल इण्टर किया है, सेकेण्ड डिवीजन में।"

राधेश्याम ने बन्द गले का कोट पहन रखा था। गले में मफलर, सर पर रोयेंदार टोपी। कुल मिलाकर वह हमारे लिए आकर्षण का केन्द्र था। पिता ने सुनाते हुए, खासकर मुझे और माँ को, कहा था, "अरे, इनकी बहुत-सी फैक्टरियों में जान-पहचान है। ठेकेदारी का कारोबार है इनका। लाहौर में जिस गाँव में हम लोग रहते थे, उसके पास के ही गाँव में थे इनके पिताजी।" यानी राधेश्याम अपनी ही बिरादरी का आदमी है, पिता यह कहना चाहते थे। इसके बाद जैसा कि प्राय: होता, पिता उन दिनों की यादें ताजा करने लगे थे। सन् 47 के विभाजन के दहशतजदा किस्से सुनाने लगे थे कि कैसे वे लोग अपनी सारी जमीन-जायदाद, रुपया-पैसा, मकान आदि छोड़-छाड़कर कटी हुई लाशों के ढेरों में छिपते, धूँ-धूँ कर जलते मौहल्लों, गलियों में से डर-डरकर भागते-निकलते, प्यास लगने पर छप्पड़ों(पोखरों) का गन्दा पानी पीते, जान बचाते किसी तरह हिन्दुस्तान में घुसे थे। उनका अन्दाजेबयां ऐसा होता कि हमारे रोंगटे खड़े हो जाते।

दूसरी बार जब राधेश्याम घर आया तो पिता ने अपने मन की बात कह दी, "आपकी तो इतनी जान-पहचान है जी... कहीं किसी फैक्टरी में अड़ा दो न हमारे सुशील को... इंटर पास है।"

"हाँ-हाँ, करूँगा मैं बात... आप चिन्ता न करें," राधेश्याम ने दिलासा देते हुए कहा, "अरे अपनों को नहीं लगवाएंगे तो किसे लगवाएंगे। आप फिक्र न करें जी, जहाँ कहोगे लगवा दूँगा।"

बस, फिर क्या था। पिता की दिलचस्पी राधेश्याम में बढ़ गई। जिस दिन उन्हें मालूम होता, वह फैक्टरी आया है, वह उसे जबरदस्ती अपने साथ घर ले आते।

इस प्रकार, राधेश्याम का आना-जाना हमारे घर में बढ़ने लगा था। अब वह जब कभी फैक्टरी आता, सीधा हमारे घर पहुँचता, चाहे पिता घर पर होते या न होते।

पिता की अनुपस्थिति में राधेश्याम जब भी हमारे घर में घुसता, पूरे घर में चहल-पहल शुरू हो जाती। घर में तेल-घी न होने पर पड़ोस से मांग-तूंग कर प्याज की पकौड़ियाँ तली जातीं... चाय के कप उठाकर राधेश्याम को पकड़ाने के लिए दोनों बहनों के बीच होड़ लग जाती... माँ राधेश्याम से 'अपना ही घर समझो' कहती रहतीं... खाने का वक्त होता तो जबरन खाना खिलाया जाता। वह उठकर जाने लगता तो बहनें उससे थोड़ी देर और रुकने का इसरार करने लगतीं, "पिताजी आ जाएं तो चले जाइएगा।" और राधेश्याम कई-कई घंटे हमारे यहाँ बिताकर लौटने लगा।

इस बीच, कई महीने बीत गए। राधेश्याम हमारे यहाँ आता, ठहरता, गप्प-शप्प करता और खा-पीकर चला जाता। वह आता तो बहनों के चेहरे खिल उठते और जाता तो उन्हीं चेहरों पर उदासी के रंग पुत जाते। पिता उससे बहुत उम्मीद लगाए बैठे थे। हर रोज वह सोचते, आज वह आएगा और कहेगा, "मैंने सुशील के बारे में फलाँ फैक्टरी में बात कर ली है, कल से उसे भेज दो..." पर होता इसके उलट। राधेश्याम आता, इधर-उधर की बातें करता, हँसता-हँसाता, खा-पीकर चलता बनता। जितनी देर वह घर पर रुकता, पिता की ऑंखेंऔर कान उसी की ओर लगे रहते।

पिता की बेसब्री का बांध अब टूट रहा था। आखिर, उन्होंने हिम्मत कर एक बार फिर राधेश्याम से मेरे बारे में बात की। वह जैसे सोते से जागा था, "अरे, मैं तो भूल ही गया। आपने भी कहाँ याद दिलाया।" राधेश्याम कुछ सोचते हुए बोला, "आप फिक्र न करें जी... अब आपने याद दिलाया है तो इसे कहीं-न-कहीं ज़रूर अड़ा दूँगा।"

इसके बाद उसने खाना खाया और चला गया।

पिता इतने भर से फूलकर गुब्बारा हो गए थे। काफी देर तक वह हमारे सामने उसका गुणगाण करते रहे।

और फिर, पूरा एक महीना राधेश्याम दिखाई नहीं दिया।

एक दिन दोपहर के समय हमारे क्वार्टर के बाहर जीप आकर रुकी। शान्ता दौड़कर बाहर निकली। देखा, राधेश्याम था। उसके हाथ में एक पैकेट था जिसे लेकर शान्ता झूमती हुई भीतर दौड़ गई थी।

"क्या है ?" मेरे प्रश्न को उसने अनसुना कर दिया था। अब वह पैकेट विमला के हाथ में था। विमला के चेहरे पर भी खुशी के भाव तैर आए थे। मैं चीख-सा उठा, "क्या है इसमें ?"

"तुम्हें क्या ?... कुछ भी हो। अंकल हमारे लिए लेकर आए हैं तो तुम्हें क्यों जलन होती है ?..." शान्ता ने पलटकर मेरी चीख का जवाब दिया। मुझे उससे ऐसी उम्मीद कतई नहीं थी। आज तक वह मुझसे ऊँची आवाज में नहीं बोली थी। मैं कुछ और कहता कि बीच में माँ आ गई, "अरे कुछ नहीं है। दोनों की साड़ियाँ है इसमें। मैंने मंगवाई थीं।"

अब तक चुप बैठा राधेश्याम एकाएक हँसते हुए बोला, "अहमदाबाद गया था। लौटते वक्त सोचा लेता जाऊँ... सस्ती हैं।" फिर मेरी ओर मुखातिब होते हुए बोला, "तुम्हारे लिए भी पेंट-शर्ट देखी थी, पर सोचा, मालूम नहीं तुम्हें कौन-सा रंग पसंद है। इसलिए नहीं ला सका। अबकी बार जाऊँगा तो पूछकर जाऊँगा।"

शाम छह बजे तक वह हमारे घर पर रहा। अहमदाबाद की बातें बताता रहा। माँ और बहनें तन्मय होकर उसकी बातें सुनती रहीं। पिता के फैक्टरी से लौटने का वक्त हुआ तो राधेश्याम उठकर जाने लगा। माँ ने कहा, "उनके आने का वक्त हुआ तो आप जा रहे हैं... इतने दिनों बाद आए हैं, उसने मिलकर ही जाते।"

राधेश्याम को रुकना पड़ा। कुछ ही देर बाद पिता आ गए। वह तपाक से उनसे मिला और उनके कुछ बोलने से पहले ही अपने अहमदाबाद चले जाने की बातें करने लगा। पिता चुपचाप उसकी बातें सुनते रहे। कुछ बोले नहीं। बहनें उठकर पहले ही दूसरे कमरे में चली गई थीं और माँ रसोई में चाय का पानी चढ़ाने लगी थी। कुछेक क्षणों तक कमरे में चुप्पियों का बोलबाला रहा। एकाएक, राधेश्याम ने मँह खोला, "अगले हफ्ते फिरोजाबाद-आगरा जा रहा हूँ... वहाँ की कई फैक्टरियों में मुझे काम हैं। सुशील के लिए बात करूँगा।"

पिता अभी भी चुप थे। वह सुन रहे थे बस।

"सुशील को साथ लेता जाऊँगा। आमने-सामने बात हो जाएगी।" राधेश्याम मेरी ओर देखकर बोला, "कभी आगरा गए हो ?...ताज देखने की चीज है... इस बहाने तुम उसे भी देख लेना।... ऐं...।"

मेरे मन में ताजमहल देखने की इच्छा पिछले कई सालों से थी। कालेज की ओर से एक टूर गया था, छात्र-छात्राओं का। सबने सौ-सौ रुपये मिलाये थे। मैं सौ रुपयों के कारण न जा सका था।

"इधर ही कहीं देखते तो अच्छा रहता।... इतनी दूर...।" पिता के मुँह से काफी देर बाद बोल फूटे थे। लगता था, जबरन आवाज को भीतर से बाहर धकेलने की कोशिश कर रहे हों।

"अरे भाई साहब... एक-दो साल उधर कर लेगा। कुछ एक्सपीरियेंस हो जाएगा तो इधर किसी अच्छी फैक्टरी में लगवा दूँगा। आप फिक्र क्यूँ करते हैं ?..."

उस दिन मैं बहुत खुश था। एक दिन पहले ही मैंने अपनी इकलौती पेंट-शर्ट धोकर, प्रेस कराकर रख ली थी। और दिनों की अपेक्षा उस दिन मैं सुबह जल्दी उठ गया था और नहा-धोकर तैयार होकर बैठा था।

पिता के फैक्टरी चले जाने के तुरन्त बाद राधेश्याम पहुँचा था। कुछ देर बैठने के बाद उसने आवाज़ लगाई, "अरे भई, तुम लोग जल्दी तैयार होओ... नहीं तो लौटने में देर हो जाएगी।"

मैं तैयार था और राधेश्याम मुझे देख चुका था। लेकिन उसका 'तुम लोग' मुझे हैरान करने लगा। थोड़ी ही देर में सारी स्थिति साफ हो गई। शान्ता और विमला तैयार होकर बाहर निकल आई थीं।

मेरा सारा उत्साह एकाएक ठंडा पड़ गया। मेरी इच्छा कपड़े उतारकर फेंक देने की हुई। बहनों की हँसी मुझे अन्दर तक चुभ रही थी। राधेश्याम की चालाकी पर मुझे गुस्सा आ रहा था। मेरी और पिता की अनुपस्थिति में राधेश्याम और बहनों के बीच ज़रूर कोई खिचड़ी पकती है। मुझे नौकरी दिलाने नही, इस बहाने विमला और शान्ता के साथ मौज-मस्ती के उद्देश्य से जा रहा था वह।

"कोई नहीं जाएगा... न मैं, न शान्ता, न विमला।" मैं चीखकर कहना चाहता था, पर चीख मेरे अन्दर ही तड़फड़ा कर दम तोड़ गई।

माँ को भी शायद इस बारे में अधिक जानकारी नहीं थी। दोनों लड़कियों को तैयार हुआ देख, उसने पूछा, "तुम दोनों कहाँ चलीं तैयार होकर !"

राधेश्याम उठकर आगे बढ़ आया, बोला, "बच्चियाँ है, ताज देखने की उत्सुकता होना स्वाभाविक है बच्चों में। इस बहाने सुशील के संग ये भी घूम लेंगी आगरा... कहाँ रोज-रोज जाना होता है।"

"वो तो ठीक है पर, इनसे पूछे बिना मैं कैसे लड़कियों को भेज सकती हूँ।... ये फिर कभी चली जाएंगी। अभी तो आप सुशील की नौकरी के लिए जा रहे हैं। जाने कहाँ-कहाँ, किन-किन फैक्टरियों में जाना-रुकना पड़ेगा आपको... आप सुशील को ही ले जाएँ।"

माँ की बात पर राधेश्याम भीतर-ही-भीतर मन मसोस कर रह गया था। ऐसा उसके चेहरे से लग रहा था। बहनों के चेहरे लटक गए थे। लटके हुए चेहरे लिए वे पैर पटकती हुई अन्दर दौड़ गई थीं। क्षणभर को गमी जैसा वातावरण बन गया था। राधेश्याम चुप था। माँ दुविधा में थी। मैं खुश भी था और नहीं भी।

"चलो..." राधेश्याम ने मेरी ओर देखकर कहा और जीप में जा बैठा। जीप स्टार्ट हो चुकी थी लेकिन मैं अभी भी माँ के पास असमंजस की स्थिति में खड़ा था। माँ ने पल्लू में बंधे सौ रुपये मुझे थमाए और कहा, "रख ले। ज़रूरत पड़ जाती है कभी-कभी।"

मैं चुपचाप जाकर जीप में बैठ गया। मेरे बैठते ही जीप झटके से आगे बढ़ गई।

दोपहर का समय था जब फिरोजाबाद की एक फैक्टरी में हमारी जीप घुसी। पूरे रास्ते न राधेश्याम मुझसे बोला था, न मैं राधेश्याम से। जीप से उतरकर वह सीधे फैक्टरी में जा घुसा था। मैं वहीं जीप में बैठा रहा। कोई एक घंटे के बाद वह फैक्टरी से निकला। मुझे अब कुछ-कुछ भूख व प्यास लग आई थी।

जीप अब फिर सड़क पर दौड़ रही थी। आधे घंटे के सफ़र के बाद जीप फिर एक फैक्टरी के बाहर रुकी। मुझे उतरने का इशारा हुआ। मैं उतरकर राधेश्याम के पीछे हो लिया। रिसेप्शन पर मुझे बिठा, वह फैक्टरी में घुस गया। बीस-पच्चीस मिनट बाद राधेश्याम लौटा तो बेहद खुश नज़र आ रहा था। मैंने सोचा, नौकरी की बात पक्की हो गई लगती है शायद। रिसेप्शन पर बैठे एक आदमी से उसने हँस-हँसकर बातें कीं और फिर उसे लेकर फैक्टरी के बाहर बने खोखे पर चाय पीने लगा। रिसेप्शन के शीशे के दरवाजों के पार मैं उन्हें चाय पीता देखता रहा। दोनों को चाय पीते देख मेरी भूख व प्यास एकाएक तेज हो उठी थी।

वहाँ से निकलने के बाद जीप फिर दौड़ रही थी- सड़क पर। राधेश्याम अब कोई फिल्मी गीत गुनगुनाते हुए मस्ती में जीप चला रहा था। एकाएक बोला, "मालूम है, अभी हम जिस फैक्टरी में गए थे, उस फैक्टरी से मुझे नेट डेढ़ लाख का मुनाफा होने जा रहा है... यह मेरा अब तक का सबसे बड़ा ठेका होगा।" उसके चेहरे पर रौनक थी। वह किसी फिल्मी हीरो की तरह जीप चला रहा था। झूमता... गाता... सीटी बजाता।

"सरकार से हवाई जहाजों में इस्तेमाल होने वाली काँच की छोटी चिमनियों का ठेका मिला है- एक लाख चिमनियों का। यह फैक्टरी बनाने को तैयार हो गई है। प्रति चिमनी फैक्टरी का ढाई रुपया खर्च होगा। सोढ़े तीन में मुझे देगी। मैं उसे सरकार को पाँच में दूँगा। यानी एक लाख चिमनियों पर नेट डेढ़ लाख का लाभ !"

उसकी खुशी का कारण अब मुझसे छुपा नहीं था। उसकी खुशी के पीछे मेरी नौकरी आदि की कोई बात नहीं थी। यह तो उसके ठेके में हो रहे मुनाफे की बात थी। मेरी नौकरी की बाबत उसने कोई बात भी की होगी, इसमें मुझे सन्देह हो रहा था।

राधेश्याम के अनुसार अब हम आगरा के बहुत नज़दीक चल रहे थे। इससे पूर्व रास्ते में एक छोटी फैक्टरी में राधेश्याम ने मेरी नौकरी की बात की थी। मैनेजर ने फिलहाल कोई वेकेंसी नहीं होने पर खेद प्रकट किया था। साथ ही, भविष्य में ज़रूरत पड़ने पर बुलाने का आश्वासन देते हुए मेरे पर्टीकुलर्स आदि रख लिए थे।

हमारी जीप एक बार फिर एक फैक्टरी के बाहर रुकी। इस बार राधेश्याम भीतर घुसा तो दो घंटों से भी अधिक समय लगाकर बाहर निकला। जीप में बैठे-बैठे उसका इन्तज़ार करते मैं तंग आ गया था। इस बीच मैंने फैक्टरी के बाहर बने हैंड पम्प से पानी पिया था और वक्त काटने के लिए इधर-उधर चहल-कदमी करता रहा था। पानी पीने के बाद मेरी भूख तेज हो उठी थी। सुबह हल्का-सा नाश्ता करके ही चला था मैं। पास ही ढाबेनुमा एक दुकान थी। सोचा, राधेश्याम के बाहर निकलने से पहले कुछ खा लूँ। पैसे तो थे ही मेरे पास। मगर तुरन्त ही जाने क्या सोचकर मैंने अपने इस विचार को झटक दिया। दरअसल, मैं भीतर से भयभीत था कि कहीं राधेश्याम बाहर न निकल आए और मुझे खाता हुआ न देख ले।

मैं जीप में बैठ गया और अपना ध्यान इधर-उधर उलझाने लगा। लेकिन यह सिलसिला अधिक देर न चला। भूख के मारे मेरे सिर में हल्का-हल्का दर्द शुरू हो चुका था। तभी राधेश्याम बाहर निकला। शाम के साढ़े चार का वक्त हो रहा था तब। जीप में बैठते हुए राधेश्याम बोला, "इस फैक्टरी का मैनेजर बाहर गया है, होता तो तुम्हारी बात पक्की थी। अपना यार है, साथ-साथ पढ़े हैं हम।"

जीप स्टार्ट कर वह बोला, "तुम्हें ताज दिखा दें, फिर लौटते हैं। बहुत देर हो जाएगी नहीं तो। रात ग्यारह से पहले नहीं पहुँच पाएंगे।"

मैं चुप था। ताज देखने की इच्छा ने थोड़ी देर के लिए मेरी भूख को कम कर दिया था। कुछ किलोमीटर चलने पर ही ताज दिखने लगा था। राधेश्याम बोला, "वो देखो... ताज। कितना सुंदर लगता है। दूर से ऐसा लगता है जैसे कोई खूबसूरत सफेद परिन्दा आकाश में उड़ने को तैयार बैठा हो।... है न ?"

मैं उत्सुकता भरी नज़रों से ताज देखने लगा।

"देख लिया, अब यहीं से लौट चलें।... क्यों ?" राधेश्याम जीप धीमी करता हुआ बोला। मुझे लगा, मेरी सारी उत्सुकता का किसी ने जैसे हाथ बढ़ाकर बेरहमी से गला घोट दिया हो।

"फिर कभी आएंगे।... सभी... तो देखेंगे करीब से। ग्रुप में देखने में कुछ और ही मजा है।..." जीप रुक गई थी। राधेश्याम की ऑंखें मेरे चेहरे पर स्थिर थीं। शायद वह मेरी प्रतिक्रिया जानने की कोशिश कर रहा था।

"नहीं, मैं तो आज ही ताज देखकर जाऊँगा।... इतने नज़दीक पहुँचकर मैं बिना देखे नहीं जाऊँगा।" मैं हैरान था, मेरे गले से यह सब कैसे निकला। मेरा चेहरा तना हुआ था। ऑंखें अभी भी ताज को देख रही थीं। राधेश्याम ने बिना कुछ बोले जीप सड़क पर दौड़ानी आरंभ कर दी थी।

कोई आधे घंटे बाद हम ताज के पास थे। जीप पार्क कर राधेश्याम बोला, "मैं यहीं ठहरता हूँ। तुम आधे घंटे में देखदाख कर आओ। मैं यहीं पर मिलूँगा। ठीक !"

मैं अपनी अंतड़ियों में तेजी से छुरी की तरह कुछ घुमड़ता हुआ महसूस कर रहा था अब। भूख और सिरदर्द की वजह से खूबसूरत दीखने वाला ताज अब मुझे कतई अच्छा नहीं लग रहा था। अनमने भाव से मैं ताज की ओर बढ़ा। दूर से खूबसूरत सफेद परिन्दे-सा दीखने वाला ताज मुझे अब किसी विशाल सफेद दैत्य-सा लग रहा था। उसकी चारों मीनारें मुझे लम्बी-लम्बी बांहों के समान लग रही थीं। एक औरत की लाश को अपन चंगुल में फँसाये दैत्य हँस रहा था।

लगता था, सिर की नसें फट पड़ेंगी। पेट की अंतड़ियों में ऐंठन हो रही थी। मैं इस दैत्य के साये से खुद को जल्द ही बाहर निकाल लाया।

बाहर निकलकर देखा, राधेश्याम कहीं नहीं था। जीप भी खाली थी। लोगों के आते-जाते हुजूम में मैं राधेश्याम को ढूँढ़ता रहा था, कुछ देर तक। भूख और सिरदर्द के कारण मुझे चक्कर आ रहा था। लगता था, किसी भी क्षण गिर पडूँग़ा।

एकाएक, मुझे सामने कुछ ही दूर पर बने रेस्तरां के बाहर बिछी एक बेंच पर राधेश्याम पूरियाँ खाता दिखाई दे गया। वह जल्दी-जल्दी मुँह चला रहा था। ठीक इसी क्षण मैंने अपने भीतर, ऊपर से नीचे चीरती जाती तेजाब की एक धार को महसूस किया। मैं अधिक देर वहाँ खड़ा न रह सका।

वहाँ से हटकर मैंने तुरन्त बस-स्टैण्ड के लिए रिक्शा किया। घर पहुँचने के लिए माँ के दिए हुए सौ रुपये मुझे काफी लग रहे थे।

चुप्पियों के बीच तैरता संवाद

मुझे यहाँ आए एक रात और एक दिन हो चुका था। पिताजी के सीरियस होने का तार पाते ही मैं दौड़ा चला आया था। रास्ते भर अजीब-अजीब से ख्याल मुझे आते और डराते रहे थे। मुझे उम्मीद थी कि मेरे पहुँचने तक बड़े भैया किशन और मंझले भैया राज दोनों पहुँच चुके होंगे। पर, वे अभी तक नहीं पहुँचे थे। जबकि तार अम्मा ने तीनों को एक ही दिन, एक ही समय दिया था। वे दोनों यहाँ से रहते भी नज़दीक हैं। उन्हें तो मुझसे पहले यहाँ पहुँच जाना चाहिए था, रह-रहकर यही सब बातें मेरे जेहन में उठ रही थीं और मुझे बेचैन कर रही थीं। मैं जब से यहाँ आया था, एक-एक पल उनकी प्रतीक्षा में काट चुका था। बार-बार मेरी ऑंखें स्वत: ही दरवाजे की ओर उठ जाती थीं। मुझे तो ऐसे मौकों का जरा-भी अनुभव नहीं था। कहीं कुछ हो गया तो मैं अकेला क्या करूँगा, यही भय और दुश्चिन्ता मेरे भीतर रह-रहकर साँप की तरह फन उठा रही थी।

पिताजी की हालत में रत्तीभर भी सुधार नहीं था। कल शाम जब से मैं आया हूँ, उन्हें नीम-बेहोशी में ही देख रहा हूँ। अम्मा ने बताया था कि मेरे आने से चार-पाँच घंटे पहले तक तो उन्होंने दवा वगैरह ली थी। टट्टी-पेशाब भी किया था। शरीर में हरकत भी थी। किन्तु, उसके बाद से न तो ऑंखें खोली हैं, न ही हिले-डुले हैं। अम्मा कई बार उनका पायजामा वगैरह भी देख चुकी हैं। टट्टी-पेशाब तक लगता है, बन्द हो गया है। अम्मा अब बेहद घबराई हुई-सी थीं। उनसे कहीं अधिक मैं घबरा रहा था।

पिताजी को हिला-डुलाकर बात करने की मेरी कोशिशें बेकार रही थीं। सारा दिन मैं उनके पास बैठा रहा था। बैठे-बैठे कभी लगता, अभी पिताजी करवट लेंगे... कभी लगता, अभी उनके होंठ हिलेंगे... कभी लगता,

वे गर्दन हिलाने की कोशिश कर रहे हैं... पर, ऐसा मुझे लगता था, होता कुछ नहीं था।

पूरे घर में सन्नाटे की एक चादर तनी थी। एक दुश्चिन्ता और चुप्पी की गिरफ्त में हम सब बुरी तरह जकड़े हुए थे। हम लोग आपस में बातें भी करते थे, तो लगता था, फुसफुसा रहे हों।... गले से आवाज खुलकर निकल ही नहीं पा रही थी। छोटी बहन पिंकी और छोटा भाई विक्की कल से ही मुझसे बहुत कम बोले थे। उनके चेहरे पर चुप्पियाँ चस्पां थीं। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि विक्की जैसा शरारती बालक इतना शान्त और खामोश कैसे रह सकता है ! उसे तो उठते-बैठते, खाते-पीते बस शरारत ही सूझती थी।

हम चुप थे। हमारा एक-एक पल भय और घबराहट में बीत रहा था।

घड़ी ने शाम के छह बजाए तो मैं पिताजी के पास से उठकर दूसरे कमरे में आ गया। विक्की कोई किताब खोले पढ़ रहा था चुपचाप। पिंकी किसी पुराने कपड़े पर कढ़ाई कर रही थी।

बाहर, गली में बच्चे खेल रहे थे। हल्का-हल्का शोर खुली खिड़की से कूदकर अन्दर आ रहा था। शायद आइस-पाइस या छुपा-छुपी का खेल था। कभी-कभी कोई बच्चा हमारे घर से लगे जीने के नीचे छुप जाता था। दूसरा बच्चा उसे ढूँढ़ते हुए जब वहाँ पहुँचता तो शोर तेज हो उठता और हमारे घर में सन्नाटे की तनी हुई चादर हिलने लगती।

एक-दो बार अम्मा बाहर निकलकर शोर न करने का इशारा कर आई थीं लेकिन बच्चे तो आखिर बच्चे थे। थोड़ी देर बाद ही उनका शोर फिर सुनाई दे जाता। इस बार अम्मा ने झल्लाकर उन्हें डपट दिया था, "तुमसे कहा न, यहाँ शोर न करो... जाओ, दूर जाकर खेलो...। अब इधर आए तो...।" और उन्होंने खुली हुई खिड़की बन्द कर दी थी।

अम्मा की डांट सुनकर बच्चे चुपचाप खिसक गए थे। अब, घर के बाहर और भीतर दोनों तरफ एक चुप्पी ही चुप्पी थी।

मेरी पीठ में अब दर्द होना आरंभ हो गया था और मुझे नींद भी आ रही थी। एक रात और एक दिन बैठे-बैठे गुजारना... और उससे भी पहले एक दिन का रेल का सफ़र ! मुझे यूँ अधलेटा-सा देखकर अम्मा

बोली, "थक गया होगा तू भी... थोड़ी देर लेट जा, कमर सीधी हो जाएगी।" अम्मा बहुत पास से बोल रही थीं लेकिन उनकी आवाज मुझे बहुत दूर से आती लग रही थी। थकी-थकी-सी। मैंने अम्मा की बात का कोई जवाब नहीं दिया। बस, दोनों हथेलियों में अपना मुँह ढककर मन ही मन ईश्वर से प्रार्थना करने लगा था।

तभी, अम्मा ने पूछा था, "चाय पिएगा ? बनाऊँ ?"

"नहीं, इच्छा नहीं है।" मैं कहना चाहता था लेकिन कह नहीं पाया। होंठ हिले ही नहीं, जड़-से हो गए थे जैसे। बस, क्षणांश मैंने अम्मा की ओर नज़रें उठाकर देखा था। अपनी ओर मेरे देखे जाने को मेरी सहमति समझकर वह चाय बनाने रसोई में चली गई थीं।

अब धीरे-धीरे मेरे अन्दर कुछ खोल रहा था। धैर्य चुक रहा था और बेचैनी बढ़ने लगी थी। मुझे गुस्सा भी आ रहा था। अपने पर नहीं, किशन और राज भैया पर। अभी तक ये लोग नहीं आए ?... क्या उन्हें तार नहीं मिला ?... इस छोटे-से कस्बे में कोई अस्पताल तक नहीं है। बस, जगह-जगह कुकुरमुत्तों की तरह उगे हुए नर्सिंग होम थे। जहाँ डाक्टर स्वयं चाहते हैं कि उनका मरीज जल्द ठीक न हो। उनके लिए डाक्टरी एक पेशा है, धंधा है। पैसा कमाने का धंधा ! बस, यहाँ से साठ मील दूर एक सरकारी अस्पताल है। दोनों बड़े भाई आ जाते तो पिताजी को वहीं ले जाते। पर, मैं अकेला... उन्हें ऐसी हालत में ?... सोचते ही मेरे तो पसीने छूटने लगते हैं।

अम्मा चाय ले आई थीं। चाय का प्याला लेते हुए मैं स्वयं पर नियंत्रण न रख सका। मैंने पूछा, "किशन और राज भैया को भी तो तार मिल चुका होगा। आए क्यों नहीं अब तक ?" मेरी आवाज में तल्खी थी और उसमें खीझ और गुस्से का रंग मिला हुआ था।

"जाने क्या बात है ? कोई बात होगी।... तार पाकर रुकने वाले तो नहीं हैं।.. आते ही होंगे।" अम्मा पास बैठकर आहिस्ता-आहिस्ता बोल रही थीं, "आजकल घर गृहस्थी छोड़कर एकदम निकलना भी तो नहीं होता।"

अम्मा की इस बात से मैं भीतर तक कुढ़ गया था। हुँह... निकलना नहीं होता या निकलना नहीं चाहते। क्या घर-गृहस्थी उन्हीं की

है, मेरी नहीं। सोनू के कल से पेपर शुरू हैं। निक्की और सुधा भी पिछले हफ्ते से ठीक नहीं हैं। फिर भी, मैं तार पाते ही दौड़ा चला आया। मेरे भीतर एक घमासान मचा था, लेकिन मैं इस घमासान को शब्द नहीं दे पा रहा था। अम्मा मेरे सामने बैठी कुछ सोच रही थीं और मैं भीतर ही भीतर भुन रहा था।

दरवाजे पर दस्तक हुई तो मैं ठीक से होकर बैठ गया। पिंकी ने उठकर दरवाजा खोला। किशन और राज भैया में से कोई नहीं था। पड़ोस वाली रमा आंटी थी। दिन में भी पड़ोस से इक्का-दुक्का लोग पिताजी का हाल पता करने आ चुके थे और अपनी-अपनी सलाह देकर चले गए थे। रमा आंटी ने कमरे में घुसते ही अम्मा को सम्बोधित करते हुए पूछा, "बहन जी, अब कैसी तबीयत है भाई साहब की ?"

"उसी तरह बेहोश पड़े हैं।... आज तो हिल-डुल भी नहीं रहे। बस, रब ही मालिक है।" कहते-कहते अम्मा की हिचकियाँ उभर आईं।

"धीरज रखो बहन, कुछ नहीं होगा। सब ठीक हो जाएगा।... ऊपर वाले पर भरोसा रखो।" रमा आंटी अम्मा का कंधा थपथपाकर उन्हें धीरज बंधाने लगीं, "अब तो ब्रज भी आ गया है। किशन और राज भी आते ही होंगे। सब सम्हाल लेंगे। दिल थोड़ा न करो। हिम्मत रखो।"

कुछ देर असम्वाद की स्थिति रही। अम्मा फर्श की ओर टकटकी लगाए देखती रहीं और मैं हथेलियाँ बगल में दबाए अपने को बेहद संजीदा दर्शाने की कोशिश करता रहा। रमा आंटी लगता था, अगली बात के लिए शब्द ढूँढ़ रही थीं। एकाएक, दीवार घड़ी की ओर देखते हुए बोलीं, "आप लोगों ने खाना-वाना खाया कि नहीं... चलो, मैं बनाती हूँ। कब तक भूखे रहेंगे आप।... भाई साहब बीमार ही तो हैं। ठीक हो जाएंगे।... ऐसे कोई खाना-पीना छोड़ देता है। आ बेटा ब्रज, मेरे यहाँ कुछ खा ले।"

मेरे जवाब की प्रतीक्षा न करते हुए वह विक्की और पिंकी की ओर मुखातिब होकर बोलीं, "चलो, तुम दोनों भी खा-पी लो।"

विक्की-पिंकी ने एकबारगी रमा आंटी की ओर देखा, फिर मेरी और अम्मा की ओर। हमारी ओर से कोई प्रतिक्रिया न पाकर वे चुपचाप अपने-अपने कामों में व्यस्त हो गए।

"अच्छा, मैं यहीं भिजवा देती हूँ।" हमारी चुप्पी को देखकर रमा आंटी बोलीं तो अम्मा के मुँह से बोल फूटे, "नहीं बहन, क्यूँ तकलीफ करती हो। मेरा तो मन नहीं है। ब्रज और बच्चों के लिए दोपहर का ही बना रखा है। खा लेंगे ये।"

"अच्छा, मैं चलती हूँ। मेरी जरूरत पड़े तो बुला लेना, बहन।" कहती हुई रमा आंटी चली गईं। उनके आने पर हमारे घर की चुप्पियाँ जो थोड़ी देर के लिए कहीं दुबक गई थीं, उनके जाते ही उन्होंने फिर से पूरे घर को अपने शिकंजे में ले लिया था। थोड़ी देर बाद, अम्मा पिताजी के कमरे की ओर चली गई थीं। मैंने फिर अपनी टांगें फैला ली थीं और आँखें मूँदकर सिर दीवार से लगा लिया था।

पिताजी के शान्त चेहरे पर हल्की-सी हरकत देखकर अम्मा ने मेरी तरफ देखा है।...हाँ, सचमुच पिताजी के चेहरे पर हल्की-सी हरकत हुई है। होंठों पर कम्पन साफ दीख रहा है।... अम्मा उनके करीब होकर कहती है, "सुनिए, आँखें खोलिए... देखिए, ब्रज आया है। इससे नहीं मिलोगे !"

मैं भी आगे बढ़कर पिताजी का कमजोर और बेजान-सा हाथ अपनी मुट्ठी में लेते हुए कहता हूँ, "मैं हूँ पिताजी... आपका ब्रज... ठीक है न आप।..." पिताजी के काँपते होंठों से लगता है, वे कुछ कहना चाह रहे हैं। मैं आगे झुककर कहता हूँ, "पिताजी, कुछ कहना चाहते हैं ?... कहिए, मैं हूँ न। आपका बेटा... ब्रज।"

"कि...श... न...   रा... ज..." अस्फुट शब्द हवा में तैरते हैं।

"वे भी आते ही होंगे... आप...।"

वे एक बार अम्मा की ओर देखते हैं, फिर धीमे से गर्दन घुमाकर मेरी ओर। टुकड़ा-टुकड़ा शब्द हवा में तैरते हैं, "अपनी अम्मा की, छोटे भाई-बहन की देखभाल करना बेटा... इन्हें तुम्हारे आसरे ही...।" बमुश्किल से बोले गए शब्द अधबीच में ही अपनी यात्रा खत्म कर देते हैं। और फिर,

अम्मा रोने लगती हैं, मुँह में साड़ी का पल्लू दबाकर। मैं भीतर से काँपता हुआ भयभीत-सा होकर ढाढ़स बंधाता हूँ, "आप चिन्ता न करें... आपको कुछ न होगा...।" लेकिन, अगले ही क्षण हो जाता है। पिताजी की गर्दन एक ओर... अम्मा की चीख निकल जाती है... पिंकी-विक्की रोना-चिल्लाना आरंभ कर देते हैं। घर में तनी सन्नाटे की चादर तार-तार हो जाती है। मेरे पांवों के नीचे से जमीन खिसकने लगती है। अब क्या होगा ! मैं अकेला... घबराहट से मेरा पूरा शरीर काँपने लगता है। खुद को असहाय पाकर मैं भी फूट-फूटकर रोने लगता हूँ।

तभी, मेरी नींद टूट जाती है। पास ही खड़ी अम्मा मुझे कंधे से हिला रही थी, "ब्रज... ब्रज बेटा सो गया क्या ?... चल बिस्तर लगा दिया है, लेट जा। मैं बैठती हूँ उनके पास। सो ले, कल रात से तू सोया नहीं।"

मैं चुपचाप उठा था और कपड़े बदलने लगा था।

सोने से पहले मैं एकबार पिताजी के कमरे में गया। वे उसी तरह बेहरकत लेटे हुए थे। अम्मा ने बताया कि उन्होंने चम्मच से दवा पिलानी चाही थी लेकिन दवा गले से उतरी ही नहीं।

"डाक्टर को बुला लाऊँ ?" मैंने अम्मा से पूछा था।

"इस समय वह बुलाने से भी नहीं आएगा। सुबह अपने आप आ जाएगा। फिर भी तेरी मर्जी।"

मैंने साइकिल उठाई थी और उन्हीं कपड़ों में डाक्टर के घर पहुँच गया था। अम्मा की बात सही थी। उसने वही दवा देते रहने को कहकर मुझे लौटा दिया था। मैंने पिताजी की नब्ज एकबार देखी थी। वह चल रही थी, मन्द-मन्द। मैंने पायजामा टटोलकर देखा, गीला था। टांगों पर से कम्बल हटाया तो बदबू का एक तेज भभका मेरे नथुनों में जबरन घुस आया। मैंने एकबारगी अम्मा को आवाज दी थी और फिर खुद ही उनका पायजामा बदलने लग गया था। अम्मा ने गीला पायजामा उठाया और बाथरूम में डाल आईं। आकर बोली, "तू थोड़ा सो ले, ब्रज। देख, आँखें कैसे लाल हो रही हैं तेरी।"

अम्मा की बात पर मैं चुपचाप उठकर सोने चला गया था।

लेटते ही मुझे नींद ने अपनी गिरफ्त में ले लिया था और अगले दिन सुबह देर तक मैं सोता रहा था। अम्मा ने जब मुझे जगाया तो घड़ी में दस-पच्चीस हो रहे थे। मैंने उठते ही पिताजी के बारे में पूछा।

रात को उनके द्वारा दो बार कपड़े गंदे करने की बात अम्मा ने मुझे बताई और बोलीं, "आठ बजे मैंने दवा दी थी। तू उठकर नहा-धो ले। नाश्ता कर ले और फिर जरा डाक्टर को बुला ला। रोज तो नौ बजे तक खुद आ जाता था, आज साढ़े दस होने को आए...।"

नहा-धोकर, नाश्ता करके डाक्टर को बुलाने जा ही रहा था कि किशन और राज भैया आ गए। अम्मा उन्हें देखकर रोने लगीं तो दोनों देर से पहुँचने का अपना-अपना स्पष्टीकरण देने लगे। किशन भैया सरकारी काम से बाहर गए थे। लौटे तो तार मिला और तभी चल दिए। राज भैया ने कहा, तार पर उनका पता गलत था इसलिए तार देर से मिला। मिलते ही गाड़ी पकड़ ली।

दोनों सीधे पिताजी के कमरे में चले गए थे। अम्मा के पीछे-पीछे मैं भी पिताजी के कमरे में घुसा। पिताजी वैसी ही बेहोशी की-सी हालत में लेटे हुए थे। किशन भैया ने उनका हाथ पकड़कर नब्ज देखी थी और फिर उनके ठंडे हाथ को अपनी हथेलियों से मलकर गर्माने लगे थे। तभी, डाक्टर आ गया था। किशन भैया ने डाक्टर से बात की थी, अलग ले जाकर। शहर के बड़े अस्पताल में ले जाने की बाबत भी पूछा था। "आप लोगों की मर्जी है, वैसे..." कहकर डाक्टर ने बात हमारे ऊपर छोड़ दी थी। डाक्टर ने इस बार दवा चेंज कर दी थी। मैं दवा लेने बाजार जाने लगा तो किशन भैया मुझे सौ का नोट थमाने लगे जिसे मैंने हल्की-सी 'न-नुकर' के बाद ले लिया था और साइकिल दबा दी थी।

किशन भैया आते ही पिताजी की तीमारदारी में लग गए थे। कभी उनके कपड़े बदलते, कभी चम्मच से पानी पिलाते। कभी ठंडे हाथ-पांवों को अपनी हथेलियों से गर्माने की कोशिश करते।

राज भैया जब से आए थे, सुस्त लग रहे थे। वह कम बोल रहे थे। चेहरे से वह भी मेरी तरह भीतर से घबराये हुए लग रहे थे। अब मेरी घबराहट वैसे कुछ कम हो गई थी। किसी अनहोनी को अकेले फेस करने

का तनाव अब मेरे मस्तिष्क में नहीं रहा था। किशन भैया और राज भैया के आ जाने से मुझे भीतरी बल मिला था और लगा था, अब मुझे चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है। दोनों बड़े भैया सबकुछ संभाल लेंगे। वैसे भी वे मुझसे अधिक अनुभवी थे। उनके रहते मैं कुछ हल्का-सा अनुभव कर रहा था। विक्की और पिंकी में कोई फर्क नहीं आया था। बल्कि वे अब ज्यादा ही गम्भीर और चुप दिखाई दे रहे थे।

बदली हुई दवा से पिताजी की हालत में हल्का-सा फर्क हुआ तो उसे मैंने ही नहीं, अम्मा ने भी चट से पकड़ लिया। पिताजी ने हिलकर करवट बदलने की कोशिश की थी। उनके होंठों से लग रहा था, वे कुछ कह रहे हैं, पर शब्द आवाज़हीन थे। पिताजी को कुछ नहीं होगा, अब यह धारणा धीरे-धीरे बलवती हो रही थी।

इस परिवर्तन ने मेरे भीतर अब तक दबी, छुपी और कुलबुलाती बात को बाहर निकलने की हिम्मत बंधा दी थी। दरअसल, जिस रात से मैं यहाँ आया था, उसके अगले दिन से ही मैं सोच रहा था कि किशन भैया और राज भैया के आते ही मैं लौट जाऊँगा। दोनों बड़े भाई स्वयं संभाल लेंगे। मुझे अपनी बीमार पत्नी और बच्चों की चिन्ता सता रही थी। सोनू के होने वाले पेपर की फिक्र हो रही थी। आफिस से भी मुझे छुट्टी इसलिए मिली थी कि तार पहुँचा था, वरना... आजकल तो वैसे ही ऑडिट चल रहा है।

किशन भैया को दौड़-दौड़कर पिताजी की सेवा-सुश्रुषा करते देख मुझे उम्मीद होने लगी थी कि भैया अवश्य काफी दिनों की छुट्टी लेकर आए हैं। अब, जब तक पिताजी कुछ बेहतर स्थिति में नहीं आ जाते, वह नहीं जाएंगे। दोनों बड़े भाइयों का वैसे भी ऐसे समय में यहाँ रहना ज़रूरी है। जाने कब क्या हो जाए।

एकाएक, मुझे अपनी सोच पर ग्लानि होने लगी। क्या उन्हीं का रहना यहाँ ज़रूरी है, उसका नहीं ?... लेकिन अगले ही क्षण, लौटने की बात मेरे अन्दर उछलकूद करने लगी और मैं अवसर की तलाश करने लग गया। अम्मा अधिक बात नहीं कर रही थी। मैं जब भी उन्हें अकेले पाकर अपने दिल की बात कहने की चेष्टा करता, मेरी जुबान को न जाने क्या

हो जाता। जैसे उसे उस क्षण लकवा मार जाता हो ! मुँह से कोई शब्द ही नहीं फूटता।

किशन और राज भैया के सामने पड़ते ही मेरी हिम्मत जवाब दे जाती। दोपहर खाने के वक्त सोचा था, अपनी बात कह दूंगा। फिर सोचा, इतनी जल्दी ठीक नहीं रहेगा, शाम को कह दूंगा। रात नौ बजे की ट्रेन है, उसी से लौट जाऊँगा।

शाम के साढ़े चार का वक्त था, जब पिताजी को कुछ-कुछ होश आया था। उन्होंने मिचमिचाती ऑंखों से हम तीनों को देखा था। हाथों में हल्की-सी जुंबिश भी हुई थी। शायद, वे हाथ उठाकर हमें प्यार देना चाह रहे थे।

बदली हुई दवा असर कर रही थी।

खतरे का अहसास धीरे-धीरे कम होता लग रहा था। पिंकी चाय बना लाई थी और हम सब दूसरे कमरे में बैठकर चाय पीने लगे थे। चाय पीते हुए मैंने स्वयं को भीतर ही भीतर तैयार किया था। भूमिका स्वरूप अपनी बात भी चलाई, मसलन, "अब तो पिताजी की हालत में सुधार हो रहा है... घबराने की बात नहीं दीखती अब..." और जैसे, "मुझे तीन दिन हो गए यहाँ आए... घर पर सुधा और बेटी निक्की भी ठीक नहीं... सोनू के कल से पेपर हो रहे होंगे... पता नहीं, क्या करके आता होगा..." आदि।

मेरी इस बातचीत को कोई गम्भीरता से नहीं ले रहा था। बस, चुपचाप सुन रहे थे।

मैं एक पल सबके चेहरों की ओर देखता, फिर दिल की बात दिल में ही दबा देता। कभी-कभी मुझे लगता, बड़े भैया स्वयं ही कहेंगे, "ब्रज, अब मैं आ गया हूँ। सब संभाल लूंगा। तुम चाहो तो चले जाओ, सुधा अकेली होगी। ऐसी-वैसी बात होगी तो बुला लेंगे तुम्हें।"

अम्मा ने मुझे पिताजी के कमरे से आवाज दी तो मैं उठकर उनके पास चला गया। वह पिताजी के नीचे की चादर बदलना चाह रही थीं, बोलीं, "जरा इन्हें थोड़ा-सा ऊपर उठाना, मैं नीचे की चादर बदल दूँ।"

एकबारगी, मैंने बड़े भैया को अपनी मदद के लिए बुलाना चाहा, पर अगले ही क्षण मैंने खुद ही पिताजी को अपनी दोनों बाजुओं में लेकर

ऊपर उठा लिया था और अम्मा ने झट से उनके नीचे की चादर बदल दी थी।

अम्मा को अकेले पाकर मेरे अन्दर कुछ हिलने-डुलने लगा था। अम्मा ने पिताजी पर कम्बल ओढ़ाया और पास बैठकर उनके पैर दबाने लगीं तो मेरे मुँह से निकला, "अम्मा... !"

"क्या बेटा ?"

"पिताजी... " बस, मेरे गले में जैसे कुछ फंस-सा गया। बमुश्किल शब्द निकले, "पिताजी, ठीक हो जाएंगे तो मैं कुछ दिनों के लिए आप लोगों को अपने यहाँ ले जाऊँगा। हवा-पानी बदल जाएगा।" मुझे अपने कहे शब्दों पर हैरत हो रही थी। क्या मैं यही कहना चाहता था !

"ये ठीक हो लें पहले...।" अम्मा का कहते-कहते गला रुँध आया था, "वैसे भी तुम्हारे सिवा कौन है हमारा... तुम ही लोग तो हो।"

अम्मा के शब्द मेरे मर्म को छू रहे थे, अन्दर तक। मैं जानता था, यह अम्मा नहीं, अम्मा का दर्द बोल रहा था। उनको अपने यहाँ ले जाने की बात, मैंने उनका दिल रखने या उनका हौसला बढ़ान के लिए कही थी। सच कहूँ तो मैं यह कहना ही नहीं चाह रहा था। मैं तो अपने लौटने की बात कहना चाहता था। यह तो मैं भी अच्छी तरह जानता था और अम्मा भी कि हम तीनों भाई अपनी-अपनी शादी के बाद उन्हें कितनी बार अपने-अपने यहाँ ले जा पाए हैं !

अब मुझे शर्म महसूस हो रही थी। मैं अपनी शर्म को मिटाने के लिए कमरे की दीवारों को यूँ ही बेमतलब ताकने लगा था।

शाम को बाजार से सब्जी लेकर लौटा तो बड़े भैया अम्मा से कह रहे थे, "अम्मा, मैं रात की गाड़ी पकड़ लेता हूँ... सुबह आफिस ज्वाइन कर लूंगा। टूर से लौटा था तो सीधे इधर ही आ गया, तार पाकर। आफिस से छुट्टी भी नहीं ली थी। अब तो पिताजी की हालत में सुधार है। चिन्ता की कोई बात नहीं है, ठीक हो जाएंगे।" भैया बोले जा रहे थे और अम्मा चुपचाप सुन रही थी। राज भैया भी समीप ही बैठे थे। खामोश। कमरे में मेरे घुसते

ही बड़े भैया बोले, "राज और ब्रज तो हैं ही न। ऐसी-वैसी बात हो तो मुझे खबर कर देना।"

"भैया, जाना तो मुझे भी था..." इस बार राज भैया के होंठ हिले थे, "आप तो जानते ही हैं, मेरी नौकरी टेम्परेरी है।... छुट्टी भी बड़ी मुश्किल से मिली है।... वे लोग मौका देखते हैं, अपना आदमी फिट करने के लिए। आप यहाँ रहते तो...।"

किशन भैया कुछ देर सोच में पड़ गए थे, राज भैया की बात समाप्त होने पर। मेरे भीतर भी कुलबुलाहट होने लगी थी। अब तक दबाकर रखी बात बाहर निकलने को उतावली हो रही थी। लेकिन, सहसा मेरी नज़रें अम्मा पर अटक गईं। अम्मा जहाँ बैठी थीं, वहीं स्थिर हो गई थीं, मूर्ति की तरह !

काफी देर बाद, तने हुए सन्नाटे को किशन भैया ने तोड़ा, "अच्छा तो तुम भी चलो।... पिताजी तो ठीक हैं।... इतना घबराने या चिंतित होने की ज़रूरत नहीं।... अब हमें भी नौकरी की वजह से जाना पड़ रहा है, वरना ऐसी स्थिति में हमारा जाने को मन करता है भला ?"

फिर, मेरी ओर देखते हुए बोले, "ब्रज, तुम तो यहाँ हो ही। पिताजी को दवा वगैरह टाइम पर देते रहना।... कोई बात हो तो मुझे तार कर देना। मैं आ जाऊँगा।" और फिर जेब से रुपये निकालकर मुझे थमाते हुए बोले, "रख लो, वक्त-बेवक्त काम आ जाते हैं।"

अम्मा अब सुबकने लगी थीं। उनकी ऑंखों से ऑंसुओं की धाराएं बहने लगीं। मैं आगे बढ़कर अम्मा की बगल में बैठ गया था और अम्मा को सांत्वना देने लगा था। हाथ में पकड़े रुपयों को देखकर मेरी ऑंखें भी डबडबा आई थीं। समझ में नहीं आ रहा था, रुपये रख लूँ या भैया को लौटा दूँ।

जब थोड़ी देर तक कोई किसी से नहीं बोला तो किशन भैया उठे और तैयारी करने लगे। अम्मा ने पिंकी को आवाज लगाई, "पिंकी बेटा, खाना वगैरह तैयार कर ले। दोनों भाइयों को खिलाकर भेजना, रात का सफर है।" और फिर उठकर पिताजी के कमरे में चली गईं। शायद, वे

हमारे सामने रोना नहीं चाहती थीं। निश्चित ही, पिताजी के कमरे में जाकर वे खूब रोई होंगी।

किशन और राज भैया को ट्रेन में बिठाकर लौटा तो अम्मा ने पूछा, "ब्रज, तू तो छुट्टी लेकर आया होगा ?"

अचानक किए गए अम्मा के इस प्रश्न पर मैं अचकचा गया था। अम्मा के इस प्रश्न के पीछे का दर्द मैं अच्छी तरह महसूस कर रहा था। अम्मा से आँखें मिलाने की मेरी हिम्मत नहीं हुई। पिंकी-विक्की के पास बैठते हुए मैंने कहा, "सोचता हूँ, कल सुबह पोस्ट-आफिस जाकर सुधा को चिट्ठी डाल दूँ कि चिंता न करे... कुछ दिन लग जाएंगे और साथ ही, आफिस में भी छुट्टी बढ़ाने की अर्जी पोस्ट कर दूँ।"

अम्मा ने आगे न कुछ पूछा, न कहा। फिर वही चुप्पियाँ हमारे बीच तन गईं। एकाएक, इन चुप्पियों से मुझे ऊब होने लगी। पिताजी की बीमारी से हममें भय, घबराहट, दुश्चिन्ता का होना स्वाभाविक था लेकिन लगातार चुप्पियों को अपने ऊपर ढोये रखना... मुझे ये चुप्पियाँ अनावश्यक लगने लगीं। इनकी गिरफ्त से बाहर होने की इच्छा हुई। मैं चाहता था कि बर्फ-सी जमीं चुप्पियाँ गलकर बह जाएं।... पूरे घर में सन्नाटे की तनी चादर तार-तार हो जाए।... घर में फैली मनहूसियत से निजात मिले।... इन्हीं सब विचारों में डूबते-उतराते हुए मैंने सहसा विक्की से प्रश्न किया, "तेरी पढ़ाई कैसी चल रही है ?" फिर, उसका उत्तर जानने से पहले ही अपने बेटे सोनू के बारे में बताने लगा। हाफ-ईअरली एक्ज़ाम में आए उसके नम्बरों के बारे में... उसके सारा दिन खेलते रहने के बारे में... पढ़ाई की ओर ध्यान न देने के बारे में... इसके बाद मैंने अपनी छोटी बेटी निक्की की शैतानियों का जिक्र छेड़ दिया। पिंकी-विक्की सुनकर हँसने लगे। मुझे उनका हँसना अच्छा लग रहा था। एकाएक, विक्की ने पूछा, "भैया, निक्की को पोयम आती हैं ?"

"हाँ... बहुत। अरे, वह तो डांस भी करती है।"

"अच्छा !" पिंकी ने आश्चर्य व्यक्त किया।

"टी.वी. पर चित्रहार देखती है तो खूब नाचती है, मटक-मटक कर।"

"भैया, आज भी तो चित्रहार है। टी.वी. चला दूँ ?" विक्की ने सहमते हुए मेरी ओर देखकर पूछा।

"चुप्प !" पिंकी ने ऑंखें तरेर कर विक्की को तुरन्त डपट दिया, "तुझे टी.वी. की पड़ी है। लोग क्या कहेंगे... घर में...।"

"घर में क्या ?" पिंकी की बात पर एकाएक मैं चीख ही तो उठा, "क्या है घर में ? कोई मातम है क्या ?... पिताजी बीमार है... दवा-दारू चल रही है... ठीक हो जाएंगे।"

मेरी अनायास तेज हो उठी आवाज से कमरे का सन्नाटा काँपने लगा था। मैंने जल्दी ही खुद को संयत किया और प्यार से धीमे स्वर में बोला, "तुम लोग खेलो, कूदो, पढ़ो... तुम्हें किसने रोका है... टी.वी. भी देखो, पर ध्यान रहे, पिताजी डिस्टर्ब न हों... उनके आराम में खलल न पड़े, बस।"

मेरी बात पर अम्मा ने भी पिंकी-विक्की की ओर देखते हुए कहा, "कुछ नहीं हुआ उन्हें। बीमार ही तो हैं, ठीक हो जाएंगे।"

तभी मैंने उठकर टी.वी. ऑन कर दिया। वोल्यूम कम ही रखा। अम्मा उठकर पिताजी के कमरे में चली गईं। कुछ ही पल में स्क्रीन पर फोटो उभर आई। चित्रहार आरंभ हो चुका था। पहला ही गाना था।

अम्मा भी पिताजी के कमरे का दरवाजा हल्का-सा भीड़कर हमारे बीच आ बैठी।

वेलफेयर बाबू

"राम-राम विलफेयर बाबू !"

"राम-राम !" हरिदा दूध लेकर लौट रहे थे। रुककर उन्होंने राम-राम करने वाले को देखा। बद्री था। उसे देख, सहसा उन्हें कुछ याद आ गया।

"अरे, सुन !" बद्री को रोककर वह उसके नज़दीक गए और बोले, "देख बद्री, तेरे घर के पिछवाड़े गंदगी बहुत बढ़ गई है आजकल। झाड़ भी बहुत उग आया है। साफ क्यों नहीं करता उसे ?... तुझे मालूम है, इससे मक्खी-मच्छर बढ़ते हैं। अरे, जहाँ रहते हो, कम-से-कम वह जगह तो साफ-सुथरी रखो।"

बद्री को क्या मालूम था कि सुबह की राम-राम के बदले में विलफेयर बाबू का लिक्चर सुनना पड़ेगा।

"जी... वक्त नहीं मिला। एक-दो रोज में साफ कर दूँगा।"

"ठीक है। परसों तक सब साफ हो जाए," कहकर हरिदा आगे बढ़े तो बद्री ने राहत की साँस ली, "शुक्र है, जल्दी ही लिक्चर खत्म हो गया, नहीं तो...।"

हरिदा सर्वप्रिय कालोनी में वेलफेयर बाबू के नाम से ही जाने जाते हैं। यह नाम उन्हें इसी कालोनी के लोगों द्वारा दिया गया है। अब तो कालोनी का बच्चा-बच्चा उन्हें इसी नाम से जानता है। यहाँ तक कि पिछले डेढ़-दो साल से तो वह खुद अपना नाम भूल-सा बैठे हैं। कोई पुराना परिचित जब उन्हें हरिदा कहकर बुलाता है तो क्षणभर के लिए वह सोच में पड़ जाते हैं और पुकारने वाले का मुँह ताकते रह जाते हैं।

एक प्राइवेट कंपनी में हैड-क्लर्क थे- हरिदा। सेवा-निवृत्त होने से दो वर्ष पूर्व ही प्लॉट खरीदा था उन्होंने- सर्वप्रिय कालोनी में। जिस समय उन्होंने मकान बनवाया, उस वक्त दो-चार मकान ही बने थे यहाँ। आगे-पीछे, दूर-दूर तक उजाड़ था। पत्नी कहा भी करती, "कहाँ जंगल-बियाबान में मकान बनवाया ! दूर-दूर तक न आदम, न आदम की जात।... मुझे तो डर लगता है यहाँ।"

इस पर हरिदा समझाते हुए कहा करते, "शुरू-शुरू में सभी कालोनियाँ ऐसी ही होती हैं भागवान ! एक-डेढ़ साल में देखना यहाँ मकान ही मकान दिखाई देंगे। और, आजकल जमीन शहर के बाहर ही खाली है। खाली भी और सस्ती भी। शहर में तो जमीन हाथ नहीं रखने देती।"

कालोनी में जब भी कोई नया मकान बनना आरंभ होता, हरिदा स्वयं जाकर मकान मालिक से मिलते, उन्हें अपना परिचय देते। घर में लाकर चाय-पानी पिलाते और कहते, "मकान बनते ही आप लोग आ जाइए इधर। आपके आ जाने से रौनक बढ़ जाएगी।"

और फिर, देखते ही देखते एक दिन सर्वप्रिय कालोनी में मकान ही मकान नज़र आने लगे। लोग आकर रहने लगे तो सुनसान-सी कालोनी जीवंत हो उठी। तब हरिदा ने खुश होकर पत्नी से कहा था, "देखा ! कालोनी कितनी जल्दी आबाद होती है आजकल।"

लेकिन, धीरे-धीरे हरिदा ने देखा, सर्वप्रिय कालोनी सर्वप्रिय कहलाये जाने लायक नहीं है। लोगों के आकर रहने से बहुत गंदगी बढ़ने लगी थी। नालियों के अभाव में घरों का गंदा पानी, गलियों-रास्तों में जहाँ-तहाँ फैलकर सड़ता रहता था और गंधाने लगता था। लोगों को आने-जाने में भी काफी परेशानी उत्पन्न होने लगी थी। कूड़े-कचरे के ढेर जगह-जगह छोटे-छोटे पर्वतों का रूप धारण करने लगे थे। कालोनी के बड़े लोग तो दिशा-मैदान के लिए दूर खेतों अथवा गंदे नाले की ओर निकल जाते किन्तु बच्चे तो जहाँ-तहाँ बैठकर गंदा फैलाते रहते।

कालोनी में बढ़ी इस गंदगी को देख हरिदा चिंतित और दुखी थे, 'कौन कहेगा इसे सर्वप्रिय कालोनी ?... लोग बढ़ती गंदगी के प्रति जरा भी चिंतित नज़र नहीं आते।'

एक दिन उन्होंने मन-ही-मन बीड़ा उठा लिया, 'वह अपनी इस कालोनी को गंदगी से बचाएंगे।'

घर पर वह अकेले थे। औलाद थी नहीं। पत्नी थी और वह थे। सेवा-निवृत्त हो जाने के बाद से कोई काम-धाम भी नहीं रहा था। बस, उन्होंने घर से बाहर निकलकर कालोनी के लोगों से मिलना-जुलना प्रारंभ कर दिया। वह लोगों को इकट्ठा कर समझाने लगे। लोग उनकी बातें सुनते, सहमत भी होते, पर उनकी बातों को अमल में न लाते। प्रकाश बाबू, शर्मा जी, घोष साहब और पांडे जी जैसे कुछ लोग थे जो कुछ करना चाहते थे, पर कर नहीं पा रहे थे।

दूसरी ओर कालोनी में दूबे, हरिहर, गणेसी और असलम जैसे लोग भी थे जो हरिदा की बातों को फालतू की बकवास समझते और जब तब उनका मजाक उड़ाने को तैयार रहते। लेकिन, हरिदा ने तो हिम्मत न हारने का मन-ही-मन संकल्प लिया था। उन्हें जहाँ भी अवसर मिला, वह लोगों को घेर-घारकर समझाने लगते, "देखो, आप लोगों का एक सपना रहा होगा।... हर आदमी का होता है कि उसका एक अपना मकान हो, प्यारा-सा ! और अब आपका सपना पूरा हुआ है... ईश्वर की कृपा से आपका अपना मकान है... कितनी चाहतों और हसरतों से खून-पसीना एक कर आपने अपने सपने को साकार किया है। क्या आप चाहेंगे कि आप जब कभी अपने दोस्त, रिश्तेदार या सगे-संबंधी को अपने घर पर बुलाएं तो वह नाक चढ़ाकर आपसे कहे- अरे भाई, कैसी गंदी कालोनी में मकान बनवाया है आपने। नहीं न ? अपनी इस कालोनी को साफ-सुथरा हम-तुम मिलकर ही रख सकते हैं। गंदगी होगी तो बीमारियाँ बढेंगी... बीमारियाँ बढेंगी तो आज के मँहगाई के जमाने में हमें अपनी अनेक अहम जरूरतों का गला घोंटकर डाक्टरों की जेबें भरनी पडेंग़ी।..."

हरिदा जैसे ही बीच में कुछेक पल के लिए बोलना बन्द करते, गणेसी अजीब-सी मुद्रा बनाकर 'टुणन...टुन' बोल उठता और सभी लोग ठठाकर हँस पड़ते।

परन्तु, हरिदा इस सबसे बेअसर रहते और उनका कहना जारी रहता, "और भाइयो, गंदगी से बचने के लिए हमें-तुम्हें मिलकर ही उपाय करने होंगे। इस अन-अप्रूड कालोनी में सरकार तो कुछ करने से रही। हमें ही अपनी गलियों में नालियों का निर्माण करना होगा, ताकि हमारे घरों का बेकार पानी यहाँ-वहाँ फैलकर गंदगी न फैलाए।"

"पर नालियों का पानी जाएगा कहाँ ?" कोई प्रश्न करता।

"कालोनी के बाहर गंदे नाल में... और कहाँ।"

"इसके लिए रुपया कहाँ से आएगा ?" फिर प्रश्न उछलता।

"चंदा करके... हर घर इसके लिए चंदा देगा।" हरिदा का उत्तर होता। चंदे के नाम पर चुप्पी व्याप जाती। लोग चुपचाप इधर-उधर खिसकने लगते।

पर हरिदा मायूस नहीं हुए। वह तो दृढ़-संकल्प किए थे। उन्हें भीतर-ही-भीतर विश्वास था कि एक दिन वह लोगों को इसके लिए तैयार कर ही लेंगे। वह चंदे के लिए स्वयं घर-घर गए। कुछ का सहयोग मिला, कुछेक ने टका-सा जवाब दे दिया। कुछ ने चंदा हड़प जाने वालों के किस्से सुनाकर उन्हें बुरा-भला भी कहा। पर हरिदा ने बुरा नहीं माना। वह तो ठान बैठे थे। एक दिन में पहाड़ नहीं खोदा जा सकता, यह वह अच्छी तरह जानते थे। यह कार्य धीमे-धीमे ही होगा। लोगों को समझाना होगा, विश्वास दिलाना होगा। यह सब वह अपने लिए ही नहीं कर रहे हैं, इसमें सबका ही हित है।

कुछ दिन की दौड़-धूप के बाद हरिदा का साथ कुछ लोगों ने देना आरंभ कर दिया तो उन्हीं की देखादेखी अन्य लोग भी आगे आए। कालोनी के आठ-दस घरों को छोड़कर, सभी ने नालियों के निर्माण हेतु चंदा दिया। एकत्र हुए चंदे के पैसों से कालोनी में नालियों का निर्माण हुआ तो जहाँ-तहाँ फैले पानी से लोगों को निजात मिली।

इस छोटी-सी सफलता से हरिदा प्रसन्न हुए। कुछ उत्साह भी बढ़ा। अब उन्होंने आगे के कार्यक्रम निश्चित किए। जगह-जगह लगे कूड़े-कचरे के ढेर और जहाँ-तहाँ उगे झाड़ों को साफ करना था। यह अकेले व्यक्ति का काम नहीं था, इसके लिए भी कालोनी के लोगों का सहयोग अपेक्षित था। यह कार्य श्रमदान के जरिए ही पूरा हो सकता था। इन्हीं दिनों, स्कूल-कालेज में छुट्टियाँ थीं। हरिदा ने कुछ छात्रों और कुछ लोगों की मदद से एक दिन 'सफाई अभियान' शुरू कर दिया। जगह-जगह लगे कूड़े-कचरे के ढेरों को साफ किया गया। गलियों के गड्ढे भरे गए। झाड़-झंखाड़ को उखाड़ फेंका गया। गलियों में मिट्टी डालकर उन्हें ऊँचा किया गया।

हरिदा मन ही मन बेहद खुश थे। खुश भी और उत्साहित भी। उन्होंने जो बीड़ा उठाया था, वह आहिस्ता-आहिस्ता पूरा हो रहा था। सर्वप्रिय कालोनी को सर्वप्रिय बनाकर ही दम लेंगे, वह मन-ही-मन सोचते। पर यह तभी संभव था जब कालोनी का हर व्यक्ति उनका साथ दे, अपनी जिम्मेदारी को समझे। कालोनी के आठ-दस लोग जो असहयोग की मुद्रा अपनाए थे, हरिदा चाहते थे कि वे भी उनका साथ दें। असलम, गणेसी, दूबे, हरिहर और मंगल आदि को हरिदा जब-तब समझाने की कोशिश करते, परंतु वे तो जैसे चिकने घड़े थे। कुछ असर ही नहीं होता था उन पर !

असलम और गणेसी तो अपनी-अपनी तरकश में हरिदा के लिए व्यंग्य बाण सदैव तैयार रखते और अवसर पाते ही हरिदा की ओर चला देते। दरअसल, कालोनी में यही दो व्यक्ति थे जिनकी शह पर कुछ अन्य लोग असहयोग की मुद्रा अपनाए थे।

गणेसी ने पिछले ही वर्ष मकान बनाया था और एक छोटा कमरा अपने पास रखकर शेष किराये पर उठा दिया था। सारा दिन सुरती फांकने और इधर-उधर बैठकर वक्त काटने के अलावा उसके पास कोई काम न था। असलम जिसने गणेसी के पड़ोस में मकान बनाया था, गणेसी का दोस्त था। असलम के कोई औलाद नहीं थी। पत्नी बहुत पहले मर चुकी थी। दूसरी शादी उसने की नहीं। लेकिन गणेसी की तरह उसने अपना मकान किराये पर नहीं चढ़ाया था। पूरे मकान में अकेला ही रहता था। प्रायः वह कहता, "मेरी कौन-सी आस-औलाद है। शहर में रहता हूँ तो बना

लिया मकान। भाई गाँव में खेती-बाड़ी करते हैं। गाँव छोड़कर वे शहर आना नहीं चाहते। भतीजा-भतीजी हैं, बड़े होकर रहना चाहेंगे तो रह लेंगे।"

एक दिन असलम ने हरिदा से पूछा, "विलफेयर बाबू, कालोनी खातिर बड़ा काम कर रहे हैं आप। कौन पार्टी से हैं आप ?"

"पार्टी ?" हरिदा असलम के प्रश्न पर चौंके लेकिन तुरंत ही कहा, "नहीं, असलम भाई, मेरी कोई पार्टी-वार्टी नहीं है।"

"फिर कोई सवारथ होगा ?"

"स्वार्थ ? कैसा स्वार्थ !" दूसरा प्रश्न भी चौंकाने वाला था लेकिन हरिदा ने फिर हँसते हुए जवाब दिया, "मेरा कोई स्वार्थ नहीं है, असलम भाई। बस, स्वार्थ अगर है तो इतना कि जहाँ जिस कालोनी में हम-तुम रहते हैं, वह साफ-सुथरी हो..लोग आपस में मिलकर इसके विकास के लिए कार्य करें।"

"बिन सवारथ आजकल कोई जन-सेवा नहीं करता, विलफेयर बाबू! आप ठहिरे रिटायर्ड आदमी ! आप जैसा आदमी पहले छोटी-मोटी कालोनी से ही अपनी पुलिटिक्स शुरू करता है। नेता बनने के आजकल बहुत फायदे हैं न !... जहाँ थोड़ी-बहुत लोकप्रियता मिली नहीं कि बस, कउंसलर-फउंसलर के सपने देखने लगते हैं। अब ई पुलिटिक्स साली लोगों का दिमाग खराब किए है, लोगों का क्या कसूर ?"

हरिदा एकाएक ठहाका लगाकर हँस पड़े, असलम की बातों पर। बोले, "अरे, नहीं असलम भाई, मेरा कोई इरादा नहीं है, काउंसलर आदि बनने का।"

"शुरू में सब इहि कहत हैं विलफेयर बाबू..." गणेसी सुरती फाँकते हुए बोला और फिर उसने सुरती वाली हथेली असलम की ओर बढ़ा दी। असलम ने चुटकी भरी और उसे निचले होंठों में दबाकर बोला, "अगर चुनाव-उनाव लड़ने का इरादा नहीं तो काहे दौड़-धूप किए रहते हो ?" असलम ने समझाने के लहजे में कहना प्रारंभ किया, "देखिए विलफेयर बाबू, आज की दुनिया में अपने काम से ही मतलब रखना चाहिए। सरबप्रिय को सरबप्रिय बनाने का ठेका आपने काहे उठा रखा है ?"

हरिदा समझ रहे थे कि इतनी आसानी से ये लोग समझने वाले नहीं हैं। बोले, "ठेका लेने की बात तो मैं नहीं कहता, लेकिन आप लोग साथ दो या न दो, पर मैं तो सर्वप्रिय के लिए जो बन पड़ेगा, करता रहूँगा। मैंने इस कालोनी में आप लोगों से बहुत पहले मकान बनवाया था, तब जब यहाँ जंगल-बियाबान था।... बस, समझ लो, इस कालोनी से लगाव हो गया है मुझे।"

तभी, देश में चुनाव के दिन आ गए। वोटों के चक्कर में सरकार ने अनअप्रूड कालोनियों को पास करना शुरू कर दिया। सर्वप्रिय भी पास हो गई। कालोनी के लोग खुश थे। सबसे अधिक हरिदा।

चुनाव के बाद कालोनी के कुछ लोगों ने वेलफेयर एसोसिएशन बनाने का प्रस्ताव रखा तो दस-बारह लोगों को छोड़कर सभी तैयार हो गए। एसोसिएशन बनी। एसोसिएशन के लिए अध्यक्ष, महामंत्री तथा सदस्यों का चुनाव किया गया। पांडेय जी को अध्यक्ष और हरिदा को महामंत्री पद हेतु चुना गया।

असलम ने हरिदा को बधाई दी और साथ ही कहा, "आ गए न विलफेयर बाबू लाइन पर... हमने तो पहले ही कहा था, ये पार्टी पुलिटिक्स का नशा यूँ ही नहीं उतरता। आज एसोसिएशन के महामंतरी बने हैं, कल कुछ और भी बन जाइएगा। लगे रहिए बस लाइन पर।"

हरिदा असलम के व्यंग्य पर नाराज नहीं हुए। बोले, "असलम भाई, मुझे पोलिटिक्स-वोलिटिक्स कुछ नहीं करनी है। मैं तो कालोनी के लोगों और कालोनी की निःस्वार्थ सेवा करना चाहता हूँ, बस।"

और सच में, सर्वप्रिय वेलफेयर एसोसिएशन के महामंत्री बनने के बाद तो हरिदा और अधिक सक्रिय हो उठे। कमेटी के दफ्तर में आए दिन उनका चक्कर लगने लगा। अब वे कई एप्लीकेशन्स लिखकर ले जाते और पुरानी दी गई एप्लीकेशन्स के बारे में तहकीकात करते कि क्या हुआ ? लोगों के छोटे-मोटे काम करवाने में सदैव आगे रहते। किसी को बिजली का कनेक्शन नहीं मिल रहा तो उसको संग लेकर बिजली दफ्तर में जा रहे हैं। किसी को सीमेंट मिलने में दिक्कत हो रही है तो उसे सीमेंट दिलवाने में ऐड़ी-चोटी का जोर लगा रहे हैं। अखबारों में सर्वप्रिय कालोनी

की समस्याओं पर पत्र छपवा रहे हैं। उनकी लिखा-पढ़ी से कालोनी में बिजली के खंभे लगे, कच्ची सड़कें पक्की बनीं और सार्वजनिक शौचालय बने। नगर निगम ने कालोनी में एक प्राथमिक पाठशाला और एक डिस्पेंशरी खोलने की घोषणा भी कर दी। यह सब हरिदा की लगन और तत्परता से हुआ।

कालोनी के लोग भी आदर करते थे वेलफेयर बाबू का। किसी के घर पर बच्चे का मुंडन है या जन्म दिन, लड़की की शादी है या लड़के की, अखंड-पाठ या भजनर्-कीत्तन, वेलफेयर बाबू को अवश्य याद किया जाता और वह सहर्ष सम्मिलित भी होते। पहुँचने में जरा देरी क्या होती कि लोग 'वेलफेयर बाबू नहीं आए', 'वेलफेयर बाबू को नहीं बुलाया क्या?' आदि प्रश्न करते दिखाई देते।

अब कालोनी में न पानी की दिक्कत थी, न बिजली की। बस-सेवा भी सुबह-शाम के अलावा अब दिनभर रहने लगी थी।

हरिदा शाम के समय घर के बाहर खड़े थे कि असलम सामान उठाए बस-स्टैंड की ओर जाता दिखाई दिया।

"क्यों असलम भाई, कहाँ की तैयारी हो गई ?"

"गाँव जा रहे हैं विलफेयर बाबू, दो महीने के लिए।" असलम ने रुककर जवाब दिया, "आजकल आप बहुत व्यस्त हैं, विलफेयर बाबू। लगे रहिए... नगर निगम के अब की चुनाव हों तो खड़े हो जाइएगा आप भी। खुदा कसम, जरूर जीतिएगा आप।" कहकर असलम बस-स्टैंड की ओर बढ़ गया। हरिदा खड़े-खड़े सोचते रहे असलम के विषय में- कैसा आदमी है यह भी !

जब से कालोनी के निकट एक हाउसिंग सोसाइटी के फ्लैट बने हैं, मार्किट आदि की सुविधा के अलावा अन्य कई सुविधाएं भी कालोनी वालों को मिलने लगीं। यही नहीं, चार-पाँच साल पहले शहर से कटी हुई यह कालोनी अब शहर से बिलकुल जुड़-सी गई थी।

सब कुछ ठीक चल रहा था कि एक दिन हरिदा के ऊपर जैसे गाज गिरी। वह स्तब्ध रह गए। वह समझ ही नहीं पाए एक पल के लिए कि यह उनके साथ क्या होने जा रहा है !... ऐसा कैसे हो सकता है ?... फिर

स्वयं से ही जैसे बोले उठे, "ऐसा कैसे हो सकता है ?... अंधेरगर्दी है क्या? वह शहर के विकास प्राधिकरण के आफिस जाएंगे और पूछेंगे- यह कैसे हो सकता है ?"

कालोनी के जिस किसी व्यक्ति ने भी सुना, हत्प्रभ रह गया- 'यह वेलफेयर बाबू के संग क्या हुआ ?' हर कोई दौड़ा-दौड़ा उनके पास आया, यह जानने के लिए कि जो कुछ उन्होंने सुना है, क्या वह वाकई सच है?

हरिदा को शहर विकास प्राधिकरण की ओर से नोटिस मिला था। उनका मकान कालोनी के नक्शे से बाहर दर्शाया गया था। और जिस जमीन पर वह बना था, उसे सरकारी जमीन घोषित किया गया था। नोटिस में कहा गया था कि एक माह के भीतर वह अपना इंतजाम दूसरी जगह कर लें अन्यथा मकान गिरा दिया जाएगा।

हरिदा और उनकी पत्नी नोटिस पढ़कर भूख-प्यास सब भूल बैठे। यह क्या हो गया ? बैठे-बिठाये ये कैसा पहाड़ टूट पड़ा उन पर ? हरिदा भीतर से दु:खी और परेशान थे- यह सरासर अंधेरगर्दी और अन्याय है। पाँच साल के बाद उन्हें होश आ रहा है कि यह सरकारी जमीन है। नक्शे से बाहर दिखा दिया उनका मकान ! कहते हैं, एक माह तक खाली कर दूसरी जगह चले जाओ। मकान गिराया जाएगा।

"हुंह ! गिराया जाएगा। कैसे गिरा देंगे ! पूरी कालोनी खड़ी कर दूँगा अपने मकान के आगे।" वह गुस्से में बुदबुदाने लगे।

शाम को वह मकान की छत पर टहलते रहे और दूर-दूर तक बने कालोनी के मकानों को देखते रहे। उनका मकान कालोनी के पूर्वी कोने में है। एक तिकोनी खुली जगह में उनका ही अकेला मकान है। उनके मकान और कालोनी के बीच एक पतली सड़क है। सामने ही हाउसिंग सोसायटी के फ्लैट बने हैं। बीच की खाली जगह पर शहर विकास प्राधिकरण सिनेमा-कम-शॉपिंग सेंटर बना रहा है। टहलते हुए वह फिर बुदबुदाने लगे- 'पूरी कालोनी में एक उन्हीं का मकान दिखा उन्हें ! वह भी देखते हैं, कैसे गिराते हैं उनका मकान !"

अंधेरा घिरने लगा तो वह नीचे उतर आए। नीचे आकर चुपचाप बिस्तर पर लेट गए। दिमाग में जैसे कोई चकरी-सी घूम रही थी।

इस बीच सर्वप्रिय वेलफेयर एसोसिएशन के कुछ लोगाेंं को संग लेकर वह कहाँ-कहाँ नहीं दौड़े-फिरे। शहर विकास प्राधिकरण के अधिकारियों से मिले। चेयरमैन से भी। अपने इलाके के काउंसलर और एम.पी. के पास जाकर भी गुहार लगाई। जहाँ-जहाँ जा सकते थे, गए। पर घर लौटकर उन्हें लगता था कि उनकी यह दौड़-धूप सार्थक नहीं होने वाली।

इलाके के काउंसलर और एम.पी. का दबाव पड़ने से प्राधिकरण ने हरिदा को मुआवजा देना स्वीकार कर लिया तो वह बौखला उठे, "मुआवजा देंगे ! अरे, छह सौ रुपये गज से भी ऊपर का रेट है यहाँ और तुम दोगे मुझे बहत्तर रुपये गज के हिसाब से मुआवजा ! मुझे नहीं चाहिए तुम्हारा मुआवजा... मैं लड़ूंग़ा... इस अंधेरगर्दी के खिलाफ लड़ूंगा।"

अब हरिदा को न खाना अच्छा लगता, न पीना। रात-रात भर जागकर न जाने क्या सोचते रहते। पत्नी अलग दु:खी थी। वह कहती, "दु:ख के पहाड़ किस पर नहीं टूटते। पर क्या कोई खाना-पीना छोड़ देता है ? खाओगे-पिओगे नही ंतो लड़ोगे कैसे ?" कालोनी के लोगों को उनसे पूरी सहानुभूति थी। वे उनके सम्मुख सरकार की आलोचना करते। पांडे जी और कुछ अन्य लोगों ने हरिदा को मुआवजा ले लेने की सलाह दी। उनका विचार था कि सरकार से लड़ा नहीं जा सकता। उन्हें दूसरी जगह प्लॉट लेकर मकान बना लेना चाहिए, या बना बनाया खरीद लेना चाहिए। इसी कालोनी में मिल भी जाएगा, ठीक रेट पर।

पत्नी समझाती, "आजकल रिश्वत का बोलबाला है। अफसरों को कुछ दे-दिलाकर खुश कर दो तो शायद...।" चुपचाप सुनते रहते हरिदा। 'हाँ-हूँ' तक नहीं करते।

चिंता और भय के तले दिन व्यतीत होते रहे और एक मास पूरा हो गया। फिर दूसरा। बीच-बीच में हरिदा प्राधिकरण ऑफिस में जाकर पता करते रहे- यही मालूम होता कि उनके प्रार्थनापत्र पर विचार किया जा रहा है, लेकिन उम्मीद बहुत कम है।

धीरे-धीरे तीन माह बीत गए तो हरिदा ने सोचा, शायद उनके प्रार्थनापत्र पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया गया है। इसीलिए मामला ठंडा पड़ गया है और उनका मकान गिराने का इरादा सरकार ने छोड़ दिया है। कालोनी के लोग भी हरिदा को तसल्ली देते- "अब कुछ नहीं होगा, विलफेयर बाबू ! होना होता तो अब तक दूसरा नोटिस आ गया होता या आ गए होते वे मकान गिराने।"

धीरे-धीरे हरिदा चिंतामुक्त होने लगे थे कि एक दिन दलबल के साथ प्राधिकरण के अधिकारी आ पहुँचे- दैत्याकार बुलडोजर लेकर ! सुबह का वक्त था। हरिदा नाश्ता करके उठे ही थे। प्राधिकारण के अधिकारियों ने आगे बढ़कर उन्हें घंटेभर की मोहलत दी, सामान निकालकर बाहर रख लेने के लिए। पर हरिदा तो स्तब्ध और सन्न् रह गए थे। फटी-फटी ऑंखों से वह अपने मकान के बाहर खड़ी भीड़ को देखते रहे। कुछ सूझा ही नहीं, क्या बोलें, क्या करें। चीखें-चिल्लाएं या रोएं। पत्नी घबराहट और भय में रोने- चिल्लाने लगी थी और बदहवास-सी कभी बाहर आती थी, कभी घर के अंदर जाती थी। पुलिस वालों ने घेरा बना रखा था। कालोनी के किसी भी आदमी को अंदर नहीं जाने दिया जा रहा था। पांडे जी, प्रकाश बाबू और शंकर ने आगे बढ़कर विरोध किया तो अधिकारियों ने कहा, "हमने इन्हें पहले ही काफी समय दे दिया है। यह सरकारी जमीन है। मकान तो अब गिरेगा ही। आप हमारे काम में दखल न दें और हमें अपना काम करने दें।" यही नहीं, पुलिस वालों ने उन्हें खदेड़कर घेरे से बाहर भी कर दिया था।

अधिकारीगण हरिदा को फिर समझाने लगे। वे कुछ भी नहीं सुन रहे थे जैसे। संज्ञाशून्य से बस अपलक देखते रहे।

घंटेभर की अवधि समाप्त होते ही अधिकारियों ने पुलिस की मदद से सामान बाहर निकालना आरंभ कर दिया। हरिदा की पत्नी छाती पीट-पीटकर रोने लगी। सारा सामान निकालकर बाहर खुले में रख दिया गया। पुलिस वालों ने हरिदा और उनकी पत्नी को मकान से बाहर खींच लिया। एकाएक हरिदा चीख उठे, "नहीं, तुम मेरा मकान नहीं गिरा सकते। पहले मुझ पर चलाओ बुलडोजर ! फिर गिराना मेरा मकान !... जीते-जी नहीं गिरने दूंगा मैं अपना मकान।" और वह बुलडोजर के आगे लेट गए।

सिपाहियों ने उन्हें उठाकर एक ओर किया तो वह फिर चीखने-चिल्लाने लगे, "मैं तुम सबको देख लूँगा... मैं हाईकोर्ट में जाऊँगा... तुम मेरा मकान नहीं गिरा सकते।" और फिर वह विक्षिप्त -से होकर गालियाँ देने लगे। पत्थर उठाकर फेंकने लगे। सिपाहियों ने उन्हें आगे बढ़क़र दबोच लिया।

हरिदा चीख रहे थे, चिल्ला रहे थे लेकिन उनकी चीख-चिल्लाहट नक्कारखाने में तूती की आवाज-सी अपना दम तोड़ रही थी। वह अवश थे, असहाय थे। कोई साथ नहीं दे रहा था। कोई दीवार बनकर खड़ा नहीं हो रहा था, इस अन्याय के विरुध्द ! पूरी कालोनी शांत थी, हलचल विहीन ! डरी-डरी, सहमी-सी। बस, पुलिस घेरे के बाहर खड़ी तमाशा देखती रही।

देखते-ही-देखते, बुलडोजर ने हरिदा का मकान धराशायी कर दिया। 'यह जमीन सरकारी है' का बोर्ड भी गाड़ दिया गया वहाँ पर।

तभी, असलम गाँव से लौटा था। बस से उतरा तो वेलफेयर बाबू के घर के बाहर भीड़ देखकर हैरत में पड़ गया। आगे बढ़कर देखा तो अवाक् रह गया वह। वेलफेयर बाबू का मकान मलबे में तब्दील हो चुका था। पुलिस और प्राधिकरण के अधिकारी अब जाने की तैयारी में थे। असलम ने देखा, वेलफेयर बाबू की पत्नी रो-रोकर बेहाल हो रही थी और कह रही थी, "देख लिया, देख लिया आपने ! बड़ा गुमान था न आपको कालोनी के लोगों पर ! कहते थे- दीवार बनकर खड़े हो जाएंगे। अरे, कोई नहीं आता, मुसीबत की घड़ी में आगे... सब दूर खड़े होकर तमाशा देखते रहे... हे भगवान ! कहाँ जाएंगे अब हम ?" और वह मुँह में साड़ी का पल्लू दबाकर रोने लगी।

असलम ने हाथ में उठाया सामान वहीं जमीन पर रखा और वेलफेयर बाबू की पत्नी के निकट आकर बोला, "आप ठीक कहती हैं, भाभीजान ! जिन विलफेयर बाबू ने बिना स्वारथ इस कालोनी के लिए रात-दिन एक किया, जो दौड़-दौड़कर लोगों का काम करते रहे, उन्हीं का मकान इनके सामने टूटता रहा और ये लोग चुपचाप खड़ा होकर तमाशा देखते रहे। कितने मतलबी और स्वारथी हैं इह लोग..."

हरिदा मकान के मलबे के पास खड़े होकर पथराई ऑखों से अपनी तबाही का मंजर देख रहे थे और सोच रहे थे- यह कैसा अंधड़ था जो अभी-अभी आया था और उनका सबकुछ तहस-नहस कर गया।

असलम ने आगे बढ़कर पीछे से उनके कंधे पर हाथ रखा और कहा, "मेरा मकान खाली पड़ा है, विलफेयर बाबू ! चलिए, जब तक जी चाहे, चलकर रहिए।"

हरिदा ने मुड़कर असलम की ओर देखा। एक पल टकटकी लगाए देखते रहे पनीली ऑखों से असलम की ओर। सहसा, उनके होंठ कांपे, नथुने हिले और वह वहीं ईंटों के ढेर के पास बैठ फूट-फूटकर रोने लग पड़े।

इतने बुरे दिन

इतने बुरे दिन ! गरीबी, बदहाली और फ़ाकाकशी के दिन ! औलाद के होते हुए भी बेऔलाद-सा हाकर जीने को अभिशप्त ! बुढ़ापे में ऐसी दुर्गत होगी, ऐसे बुरे दिन देखने को मिलेंगे, उन्होंने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था।

पिछले दो दिन से घर में खाने को कुछ नहीं था सिवाय ब्रेड के। दो दिन से बूढ़ा-बूढ़ी इसी से गुजारा कर रहे थे। कल रात जब ब्रेड के चार पीस बूढ़े ने बचाकर रखे थे तो उसके सामने यह प्रश्न फन फैलाकर खड़ा हो गया था- इनके खत्म होते ही क्या होगा ? रातभर वह इसी प्रश्न से जूझता रहा था। लाला ने उधार देने से साफ इन्कार कर दिया था। पिछले कई दिनों से बूढ़ा काम की तलाश में मारा-मारा घूम रहा था, पर चाहकर भी चार पैसे कमाने का हीला नहीं ढूँढ़ पाया था। जब इस देश में नौजवान रोजगार के लिए मारे-मारे घूम रहे हों तो भला बूढ़ों को कौन पूछेगा !

अपनी इसी लाचारी और भुखमरी से तंग और परेशान होकर कल रात बूढ़े ने एक फैसला लिया था- घिनौना और कटु फैसला ! उसकी आत्मा इस फैसले से खुश नहीं थी। लेकिन वह क्या करता ? सब रास्ते बन्द पाकर एक यही रास्ता उसने खोज निकाला था जो उसे मुक्ति का द्वार प्रतीत होता था। अपने इस फैसले को उसने पत्नी से छुपाकर रखा।

सुबह दो पीस पानी में भिगोकर बूढ़े ने अपनी बूढ़ी पत्नी जो हर समय बिस्तर पर पड़ी रहती थी, को स्वयं अपने हाथों से खिलाए थे और शेष बचे दो पीस उसने शाम के लिए संभालकर रख दिए थे, ऐसी जगह जहाँ वे चूहों के आक्रमण से बचे रह सकें।

बूढ़ी की आँखें मुंदी थीं, शायद वह सो रही थी। बूढ़े ने स्वयं को घर से बाहर निकलने के लिए तैयार किया। उसने पानी का जग और

गिलास बूढ़ी के सिरहाने रखा, पाँव में हवाई चप्पल पहनी और सोटी उठा, दरवाजे को हल्का-सा भिड़ाकर घर से बाहर हो गया।

बूढ़े ने जो सोच रखा था, उसे वह अपने इलाके में नहीं करना चाहता था। वहाँ अधिकांश लोग उसे जानते थे। परिचित लोगों के बीच वह ऐसा कैसे कर सकता है ?... उससे होगा भी नहीं। अपनी सोच को अंजाम देने के लिए उसने दूसरा इलाका चुना। इसके लिए उसे काफी चलना पड़ा था, जिसके कारण पैरों में दर्द होने लगा था और सांसें फूलने लगी थीं। लेकिन उसने हिम्मत नहीं हारी और चलता रहा। 'चलना' शब्द शायद उपयुक्त नहीं है, वह चल नहीं घिसट रहा था- सोटी के सहारे। बांयें पैर की चप्पल तकलीफ दे रही थी। उसमें पैर ठीक से फंसता नहीं था। 'लेकिन, बार-बार रबड़ के निकल जाने से तो ठीक है' बूढ़े ने मन ही मन सोचा। दरअसल, पुरानी और घिसी होने के कारण बांयें पैरे की चप्पल का अगला छेद चौड़ा हो गया था। दो कदम चलने पर ही रबड़ निकल जाती थी। कल ही उसने इसे अपने ढंग से ठीक किया था। उसने कहीं से पतली-लम्बी कील ढूँढ़ निकाली थी। कील को बार-बार निकलने वाले रबड़ के सिरे के आर-पार निकालकर इस प्रकार फिट किया कि रबड़ का निकलना बन्द हो जाए। अपने इस काम में वह सफल भी रहा था। रबड़ अब निकलती न थी किंतु चप्पल में पैर फंसाने में थोड़ा दिक्कत होती थी।

अब वह जहाँ खड़ा था, वह एक व्यस्त चौराहा था। सड़क पर वाहन तेज गति से दौड़ रहे थे। सड़क पार करते इधर-से-उधर, उधर-से-इधर भागते लोगों की भीड़ थी। वह चौराहे के एक कोने में सड़क के नज़दीक खड़ा हो गया। उसे यहीं पर अपने लिए गए फैसले को अंजाम देना सुविधाजनक प्रतीत हुआ। उसने अपना ढीला चश्मा जो बार-बार नीचे सरक आता था, ठीक किया और सड़क पर देखा। वाहन मोड़ पर और तेज गति पकड़ लेते थे। उसने खुद का तैयार किया, सोटी को कसकर पकड़ा और आगे बढ़ा कि तभी... उसके हाथ-पैर कांपने लगे। 'नहीं-नहीं, उससे नहीं होगा यह सब... वह ऐसा नहीं कर सकता...' उसकी हिम्मत जवाब दे गई। वह पीछे हटकर खड़ा हो गया। उसके हृदय की धड़कनें बढ़ गई थीं। वह हाँफ रहा था।

खड़ा-खड़ा वह स्वयं पर खीझता रहा। वह जो सोचकर घर से निकला था, वह उससे क्यूँ नहीं हो पाया। भूखों मरने से तो अच्छा है वह अपने सोचे हुए काम को अंजाम दे। वह भी ... लेकिन, सचमुच उसकी हिम्मत जवाब दे गई थी। ऐसा काम उसने ज़िंदगी में कभी नहीं किया था। करना तो दूर, इस बारे में सोचा तक नहीं था। कभी नौबत ही नहीं आई थी। जीवन के आखिरी पड़ाव पर ऐसा करना शायद किस्मत में लिखा था।

सामान्य होने में बूढ़े को कुछ समय लगा। उसने चेहरे पर कई दिनों से बढ़ी खुरदरी दाढ़ी पर हाथ फेरा, इधर-उधर देखा और बुदबुदाया, 'नहीं, यह जगह ठीक नहीं है।'

वह फिर घिसटने लगा था। तेज धूप और गरमी में वह पसीना-पसीना हो उठा था, हलक सूख गया था और प्यास तेज हो उठी थी। प्यास ही क्यूँ, भूख भी सिर उठा रही थी। भूख को तो जैसे-तैसे वह मारता आ रहा था लेकिन, प्यास को रोक पाना संभव न होता था। पानी ही तो था जिससे भूख और प्यास दोनों को ही शान्त करने की लड़ाई वह गत दो दिनों से लड़ रहा था।

उसने इधर-उधर नल की तलाश में दृष्टि घुमाई। कहीं आस-पास नल नहीं दिखाई दिया। सड़क के पार पानी की रेहड़ीवाला खड़ा था लेकिन उसे देखकर भी बूढ़े ने अनदेखा कर दिया।

हाँफता-घिसटता हुआ वह अब स्थानीय बस-अड्डे पर आ पहुँचा था, जहाँ बहुत भीड़ थी। जाने कहाँ से लोग आ रहे थे, जाने कहाँ को जा रहे थे। रेलमपेल मचा था। लोग बसों से उतर रहे थे, लोग बसों में चढ़ रहे थे। यहाँ-वहाँ सामान-असबाब के साथ खड़े या बैठे थे।

एकाएक, बूढ़े ने सोचा, वह अपना सोचा हुआ काम चलती बस में भी तो कर सकता है। चलती बस में से...। उसने देखा, बाहर जाने वाले गेट पर कई बसें चलने को तैयार खड़ी थीं, सवारियों से ठसाठस भरीं। कई लोग खिड़की पर भी लटके हुए थे। वह धीमे-धीमे कदमों से उधर बढ़ा और सबसे अगली बस की खिड़की के पास जा खड़ा हुआ। बस चलने ही वाली थी। उसने अपने आप को तैयार किया। एक पल ठिठका, फिर सोटी

पकड़े-पकड़े बस का डंडा पकड़ने का यत्न करने लगा। तभी सवारियों ने चिल्लाना शुरू कर दिया-

"अरे ओ बूढ़े ! कहाँ जाना है ?"

"इसमें बहुत भीड़ है, तू न चढ़ पाएगा... मरेगा गिरकर।"

"दूसरी बस में आ जा...।"

उसी समय कंडक्टर ने व्हिसिल दे दी और बस एक झटके से चल पड़ी। वह गिरते-गिरते बचा।

प्यास फिर सिर उठाने लगी थी। उसने नल की तलाश में इधर-उधर नज़रें दौड़ाईं। जल्दी ही उसे म्युनिसिपैल्टि‍ी का नल नज़र आ गया। शुक्र था, उसमें पानी आ रहा था। बेशक धीमे-धीमे। वह देर तक नल से चिपका रहा।

पानी पी कर वह एक पेड़ के नीचे बैठ गया और अपनी किस्मत को कोसने लगा जो उसे ये दिन दिखा रही थी। बैठे-बैठे उसे अपने बेटों की याद हो आई जो अपने बीवी-बच्चों के संग दूसरे शहर में रहते थे, जिन्हें बूढ़े माँ-बाप की तनिक भी चिन्ता न थी। पिछले सात-आठ महीनों में एक बार भी झांककर नहीं देखा था कि बूढ़ा-बूढ़ी जिंदा भी हैं या नहीं। पिछले माह पत्नी के अधिक बीमार हो जाने व दवा-दारू के लिए पैसे न होने पर, वह गया था बेटों के पास। किंतु, अपमानित होकर लौटना पड़ा था और लौटकर उसने कसम खाई थी कि जब तक सांस हैं, वह बेटों के आगे गिड़गिड़ाएगा नहीं। बेटों की याद आते ही उसके होंठ वितृष्णा में फैल जाया करते हैं। सहसा, बूढ़े का ध्यान बगल वाले पेड़ की ओर गया, जहाँ एक बूढ़ा और एक बूढ़ी बैठे थे। दोनों भीख मांग रहे थे। जब भी कोई उनके सामने से गुजरता, वे अपना-अपना कासा खनखनाने लगते। बूढ़े ने गौर किया, पूरे बस-अड्डे पर अनेक भिखारी थे। जवान, बूढ़े और बच्चे ! उनमें कई लंगड़े, लूले और अंधे थे या फिर वे लंगड़ा, लूला और अंधा होने का अभिनय कर रहे थे।

थके-टूटे पैरों को घसीटते हुए बूढ़े ने बस-अड्डे का एक चक्कर लगाया। फिर वह गेट के पास खड़ा हो गया।

दोपहर हो चुकी थी और वह अभी तक अपने लिए गए फैसले के अनुसार कुछ भी न कर पाया था। तभी, उसने अंतड़ियों में ऐंठन महसूस

की। वह बुदबुदाया, 'ऐसे कब तक चलेगा। कुछ हिम्मत तो करनी ही होगी।' और अपने फैसले को अमली जामा पहनाने की कोशिश में वह अड्डे के अंदर तेजी से प्रवेश करती एक बस की ओर बढ़ा। बस उसके बिल्कुल करीब आकर रुकी। उतरने और चढ़ने को उतावली हुई सवारियों की धक्का-मुक्की में वह औंधे मुँह गिर पड़ा। सोटी हाथ से छूट गई और चश्मा एक ओर जा गिरा। किसी ने उसे उठाकर खड़ा किया और साथ ही, चश्मा और सोटी भी उठाकर दी।

चश्मा टूटने से बच गया था। वह उसे आँखों पर बिठाते हुए सोटी थामे एक ओर जा खड़ा हुआ। गिरने से उसकी कुहनियाँ छिल गई थीं और दर्द कर रही थीं।

कुछ ही दूरी पर रेलवे स्टेशन था। भूख-प्यास से व्याकुल और थके-टूटे शरीर को घसीटता हुआ वह स्टेशन तक ले आया था। कोई गाड़ी आकर लगी थी। रिक्शेवाले सवारियों की ओर लपक रहे थे। प्लेटफार्म पर जाने वाले पुल पर भीड़ थी। वहाँ कई भिखारी कतार में बैठे भीख माँग रहे थे और 'हे बाबू... रे बेटा... हे माई... तेरे बच्चे जिएं... भगवान तेरा भला करे...' की गुहार लगा रहे थे।

पुल पर चढ़ना बूढ़े के वश की बात नहीं थी। वह नीचे ही खड़ा-खड़ा आते-जाते लोगों की भीड़ को देखता रहा। जहाँ वह खड़ा था, वहाँ से एक रास्ता पटरियों की ओर जाता था। कई लोग वहीं से होकर प्लेटफार्म की ओर बढ़ रहे थे। वह भी उसी रास्ते से होता हुआ पटरियों को पार करके प्लेटफार्म पर चढ़ गया। ट्रेन अभी भी खड़ी थी। वह इंजन के पास जाकर खड़ा हो गया और जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती थी, उसने रेल के डिब्बों पर नज़र दौड़ाई, खिड़कियों से झांकती सवारियों और प्लेटफार्म पर खड़े लोगों को देखा।

बूढ़े को यह जगह उपयुक्त लग रही थी। धीरे-धीरे वह अपने अंदर हिम्मत बटोरने लगा। इस बार उसके हाथ-पैर नहीं कांपे। उसे लगा, वह अपने भीतर पर्याप्त ताकत बटोर चुका है। अब उसे आगे बढ़कर... तभी, एक तेज सीटी की आवाज के साथ इंजन ने खिसकना प्रारंभ कर दिया। धीरे-धीरे रेल गति पकड़ती गई और एक के बाद एक डिब्बा उसके आगे से गुजरता चला गया। वह कुछ न कर पाया। जहाँ खड़ा था, वहीं खड़ा रह

गया मानो उसके पैर धरती से चिपक गए हों। प्लेटफार्म पर अब इक्का-दुक्का लोग रह गए थे। वह फिर असफल रहा था। घोर निराशा और हताशा के चिह्न उसके चेहरे पर स्पष्ट देखे जा सकते थे।

शाम होने को थी। उसे बूढ़ी बीमार पत्नी का ख्याल हो आया। मायूस-सा वह घर की ओर लौट पड़ा। दिनभर चलने और खड़ा रहने के कारण उसके पैर सूज गए थे और टांगें दुखने लगी थीं।

जैसे ही वह घर में घुसा, एक चूहा तेजी से बाहर की ओर भागा। उसे यूँ बाहर भागते देख बूढ़ा बुदबुदाया, 'तुम भी घर छोड़कर भाग रहे हो ?... जाओ, यहाँ है ही क्या जो तुम रहना पसंद करोगे।' सहसा, उसे छिपाकर रखी ब्रेड का ख्याल हो आया- 'कहीं इसने...'। बूढ़े ने लपककर वहाँ हाथ मारा, जहाँ उसने ब्रेड के दो सूखे पीस छुपाकर रखे थे। पीस अपनी जगह सही-सलामत थे। बूढ़े ने राहत की सांस ली।

तभी, बूढ़ी ने उसकी ओर देखा। वह फुसफुसाई, "कहाँ चले गए थे?... मेरा दम निकलने को है, कुछ खाने को दो...।"

बूढ़ा बचे हुए ब्रेड के पीस भिगोकर बूढ़ी के मुँह में डालने लगा, "ले, बस यही हैं, इन्हें खा ले।"

"तुमने कुछ खाया ?"

"...." बूढ़ा कुछ नहीं बोला, उसकी आँखों में आँसू थे।

"मैंने पूछा, तुमने कुछ खाया ?"

बूढ़ा अब सिसकने लगा था। बूढ़ी के शरीर में हरकत हुई। वह अधलेटी-सी होकर बिस्तर पर बैठ गई।

"नहीं, तुम भी खाओ।" अपने मुख की ओर बढ़ा हुआ बूढ़े का हाथ उसने अपने हाथ से पीछे की ओर धकेल दिया। बूढ़े ने भीगी ब्रेड की बुरकी भरी और शेष बची ब्रेड बूढ़ी के मुख की ओर बढ़ा दी। तभी, उसकी रुलाई फूट गई, "मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था... इतनी मेहनत किसी ओर काम के लिए की होती तो शायद मैं कामयाब हो गया होता... मैंने एक गलत फैसला लेकर सारा दिन बरबाद कर दिया।"

"फैसला ?... कैसा फैसला ?" बूढ़ी ने घबराकर पूछा।

"मैं सारा दिन भूखा-प्यासा शहर में घूमता रहा, पर जो सोचकर निकला था, वह नहीं कर पाया... हिम्मत ही नहीं पड़ी... मैं ... मैं... लोगों के आगे हाथ नहीं फैला पाया... मैं भीख नहीं मांग पाया..." कहते-कहते बूढ़े ने अपना चेहरा अपनी दोनों हथेलियों में छिपा लिया।

साँप

"री, लक्खे तरखान के तो भाग खुल गए।"

"कौण ?... ओही सप्पां दा वैरी ?"

"हाँ, वही। साँपों का दुश्मन लक्खा सिंह।"

"पर, बात क्या हुई ?"

"अरी, कल तक उस गरीब को कोई पूछता नहीं था। आज सोहणी नौकरी और सोहणी बीवी है उसके पास। बीवी भी ऐसी कि हाथ लगाए मैली हो।"

जहाँ गाँव की चार स्त्रियाँ इकट्ठा होतीं, लक्खा सिंह तरखान की किस्मत का किस्सा छेड़ बैठतीं। उधर गाँव के बूढ़े - जवान मर्द भी कहाँ पीछे थे। उनकी जबान पर भी आजकल लक्खा ही लक्खा था।

"भई बख्तावर, लक्खा सिंह की तो लाटरी खुल गई। दोनों हाथों में लड्डू लिए घूमता है।"

"कौन ?... बिशने तरखान का लड़का ? साँपों को देखकर जो पागल हो उठता है...।"

"हाँ, वही।"

"रब्ब भी जब देता है तो छप्पर फाड़कर देता है। कल तक यही लक्खा रोटी के लिए अन्न और चूल्हा जलाने के लिए रन्न(बीवी) को तरसता था।"

"हाँ भई, किस्मत के खेल हैं सब।"

गाँव में जिस लक्खा सिंह के चर्चे हो रहे थे, वह बिशन सिंह तरखान का इकलौता बेटा था। जब पढ़ने-लिखने में उसका मन न लगा और दूसरी जमात के बाद उसने स्कूल जाना छोड़ गाँव के बच्चों के संग

इधर-उधर आवारागर्दी करना शुरू कर दिया, तो बाप ने उसे अपने साथ काम में लगा लिया। दस-बारह साल की उम्र में ही वह आरी-रंदा चलाने में निपुण हो गया था।

बिशन सिंह तरखान एक गरीब आदमी था। न उसके पास जमीन थी, न जायदाद। गाँव के बाहर पक्की सड़क के किनारे बस एक कच्चा-सा मकान था जिसकी छत के गिरने का भय हर बरसात में बना रहता। गाँव में खाते-पीते और ऊँची जात के छह-सात घर ही थे मुश्किल से, बाकी सभी उस जैसे गरीब, खेतों में मजूरी करने वाले और जैसे-तैसे पेट पालने वाले ! बिशन सिंह इन्हीं लोगों का छोटा-मोटा काम करता रहता। कभी किसी की चारपाई ठीक कर दी, कभी किसी के दरवाजे-खिड़की की चौखट बना दी। किसी की मथानी टूट जाती- ले भई बिशने, ठीक कर दे। किसी की चारपाई का पाया या बाही टूट जाती तो बिशन सिंह को याद किया जाता और वह तुरंत अपनी औजार-पेटी उठाकर हाजिर हो जाता। कभी किसी का पीढ़ा और कभी किसी के बच्चे का रेहड़ा ! दाल-रोटी बमुश्किल चलती।

जब लक्खा सिंह की मसें भींजने लगीं तो बिशन सिंह आस-पास के गाँवों में भी जाने लगा- बढ़ईगिरी का काम करने। सुबह घर से निकलता तो शाम को लौटता। काम के बदले पैसे तो कभी-कभार ही कोई देता। गेहूं, आटा, चावल, दालें वगैरह देकर ही लोग उससे काम करवाते। थोड़ा-बहुत लक्खा सिंह भी घर पर रहकर कमा लेता। इस प्रकार, उनके परिवार की दाल-रोटी चलने लगी थी।

दिन ठीक-ठाक गुजर रहे थे और लक्खा सिंह की शादी-ब्याह की बातें चलने लगी थीं कि एक दिन...

चौमासों के दिन थे। एक दिन शाम को जब बिशन सिंह अपने गाँव लौट रहा था, लंबरदारों के खेत के पास से गुजरते समय उसे एक साँप ने डस लिया और उसकी मृत्यु हो गई।

तभी से लक्खा सिंह को साँपों से नफरत हो गई। बाप के मरने के बाद कई दिनों तक वह लाठी लिए खेतों में पागलों की भाँति घूमता रहा था। बाँबियों को ढूँढ़-ढूँढ़कर नष्ट करता रहा था, साँपों को खोज-खोजकर

मारता रहा था। गाँव के बड़े-बुजुर्गों के समझाने-बुझाने के बाद उसने ऐसा करना छोड़ा था।

लेकिन, गाँव में जब किसी के घर या पशुओं के बाड़े में साँप घुस आने की खबर उसे मिलती तो वह साँप मारने वालों में सबसे आगे होता। साँप को देखकर उसकी बाजुओं की मछलियाँ फड़कने लगती थीं। साँप कितना भी भयानक क्यों न होता, लक्खा सिंह लाठी लिए बेखौफ होकर उसे ढूँढ़ निकालता और जब तक उसे मार न लेता, उसे चैन न पड़ता। मरे हुए साँप की पूंछ पकड़कर हवा में लटकाए हुए जब वह गाँव की गलियों में से गुजरता, बच्चों का एक हुजूम उसके पीछे-पीछे होता, शोर मचाता हुआ। घरों के खिड़की-दरवाजों, चौबारों, छतों पर देखने वालों की भीड़ जुट जाती।

कुछ समय बाद लक्खा सिंह की माँ भी चल बसी। अब लक्खा सिंह अकेला था।

इसी लक्खा सिंह को कोई अपनी लड़की ब्याह कर राजी नहीं था। जब तक माँ-बाप जिंदा थे, उन्होंने बहुत कोशिश की कि लक्खे का किसी से लड़ बंध जाए। इसका चूल्हा जलाने वाली भी कोई आ जाए। ऐसी बात नहीं कि रिश्ते नहीं आते थे। रिश्ते आए, लड़की वाले लक्खा सिंह और उसके घर-बार को देख-दाखकर चले गए, पर बात आगे न बढ़ी। माँ-बाप के न रहने पर कौन करता उसकी शादी की बात ! न कोई बहन, न भाई, न चाचा, न ताऊ, न कोई मामा-मामी। बस, एक मौसी थी फगवाड़े वाली जो माँ-बाप के जिंदा रहते तो कभी-कभार आ जाया करती थी लेकिन, उनके परलोक सिधारने पर उसने भी कभी लक्खा सिंह की सुध नहीं ली थी।

जब लक्खा सिंह पैंतीस पार हुआ तो उसने शादी की उम्मीद ही छोड़ दी। गाँव की जवान और बूढ़ी स्त्रियाँ अक्सर आते-जाते राह में उससे मखौल किया करतीं, "वे लखिया ! तू तो लगता है, कुंवारा ही बुड्ढ़ा हो जाएगा। नहीं कोई कुड़ी मिलती तो ले आ जाके यू.पी. बिहार से... मोल दे के। कोई रोटी तो पका के देऊ तैनूं...।"

मगर लक्खा सिंह के पास इतना रुपया-पैसा कहाँ कि मोल देकर बीवी ले आए। ऐसे में उसे गाँव का चरना कुम्हार याद हो आता जो अपनी बीवी के मरने पर बिहार से ले आया था दूसरी बीवी- रुपया देकर। दूसरी बीवी दो महीने भी नहीं टिकी थी उसके पास और एक दिन सारा सामान बांधकर चलती बनी थी। रुपया-पैसा तो खू-खाते में गया ही, घर के सामान से भी हाथ धोना पड़ा। चरना फिर बिन औरत के- रंडवा का रंडवा !

चरना को याद कर लक्खा सिंह कानों को हाथ लगाते हुए मसखरी करती औरतों को उत्तर देता, "मोल देकर लाई बीवी कल अगर भांडा-टिंडा लेकर भाग गई, फिर ?... न भई न। इससे तो कुंवारा ही ठीक हूँ।"

फिर, कभी-कभी लक्खा सिंह यह भी सोचता, जब उस अकेले की ही दाल-रोटी मुश्किल से चल रही है, तब एक और प्राणी को घर में लाकर बिठाना कहाँ की अकलमंदी है।

इसी लक्खा सिंह तरखान का सितारा एकाएक यूँ चमक उठेगा, किसी ने सपने में भी न सोचा था। खुद लक्खा सिंह ने भी नहीं। घर बैठे-बैठे पहले नौकरी मिली, फिर सुन्दर-सी बीवी।

सचमुच ही उसकी लॉटरी लग गई थी।

सन् पैंसठ के दिन थे। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की जंग अभी खत्म ही हुई थी। एक रात उधर से गुजर रही एक सेठ की कार ऐन उसके गाँव के सामने आकर खराब हो गई। आस-पास न कोई शहर, न कस्बा। ड्राइवर ने बहुत कोशिश की मगर कार ठीक न हुई। इंजन की कोई छोटी-सी गरारी टूट गई थी। सेठ और ड्राइवर ने लक्खा सिंह का दरवाजा जा थपथपाया और सारी बात बताई। पूछा, "आस-पास कोई मोटर-मैकेनिक मिलेगा क्या ?"

लक्खा सिंह उनका प्रश्न सुनकर हँस पड़ा।

"बादशाहो, यहाँ से दस मील दूर है कस्बा। वहीं मिल सकता है कोई मकेनिक। पर इतनी रात को वहाँ भी कौन अपनी दुकान खोले बैठा होगा। आप लोग मेरी मानो, रात यहीं गाँव में गुजारो। तड़के कोई सवारी लेकर चले जाणा कस्बे और मकेनिक को संग ले आणा।"

सेठ और ड्राइवर परेशान-सा होकर एक-दूसरे का चेहरा देखने लगे।

"वैसे हुआ क्या है, गड्डी को ?"

"यह गरारी टूट गई" ड्राइवर ने हाथ में पकड़ी गरारी दिखाते हुए कहा।

"हूँ..." कुछ सोचते हुए लक्खा सिंह बोला, "बादशाहो, तुसी बैठो। देखता हूँ, क्या हो सकता है।"

लक्खा सिंह ने अपनी औजार-पेटी खोली, औजार निकाले और लकड़ी की एक गाँठ लेकर बैठ गया। लैम्प की रोशनी में आधे घंटे की मेहनत-मशक्कत के बाद उसने हू-ब-हू लकड़ी की गरारी तैयार कर दी और बोला, "चलो जी, इसे फिट करके देखते हैं।"

ड्राइवर और सेठ हैरान थे कि यह लकड़ी की गरारी क्या करेगी ? लेकिन जब लक्खा सिंह ने सच्चे पातशाह को याद करते हुए गरारी को उसकी जगह पर फिट किया और गाड़ी स्टार्ट करने को कहा तो न केवल गाड़ी स्टार्ट हुई बल्कि गियर में डालते ही चल भी पड़ी।

"लो भई बादशाहो, ये मेरी गरारी आपको शहर तक तो पहुँचा ही दे शायद।"

सेठ और ड्राइवर बहुत खुश थे। सेठ ने लक्खा सिंह को रुपये देने चाहे जिन्हें लेने से लक्खा सिंह ने इन्कार कर दिया। बोला, "बादशाहो, आपकी गाड़ी हमारे गाँव के पास आकर खराब हुई। आप हमारे मेहमान हुए। मेहमानों से क्या कोई पैसे लेता है ? आपकी हम जितनी सेवा कर सकते थे, कर दी। रुपये देकर हमें शरमिंदा न करो।"

और जब वाकई कार ने सेठ को उसके शहर तक पहुँचा दिया तो सेठ लक्खा सिंह से बहुत प्रभावित हुआ। उसका अपना लकड़ी का कारोबार था। देहरादून और पौढ़ी-गढ़वाल में आरा मशीनें और फरनीचर के कारखाने थे उसके। उसने अगले दिन ही अपना आदमी भेजकर लक्खा सिंह को अपने पास बुला लिया।

सेठ ने पूछा, "मेरे यहाँ नौकरी करोगे ? सौ रुपया महीना और रहने को मकान।"

लक्खा सिंह को और क्या चाहिए था। उसने 'हाँ' कर दी। शहर में सेठ का बड़ा गोदाम था। फिलहाल, सेठ ने उसे वहीं रख लिया।

इधर शहर में उसकी नौकरी लगी, उधर फगवाड़े वाले मौसी एक लड़की का रिश्ता लेकर आ गई। लक्खा सिंह की हाँ मिलते ही लड़की वाले अगले महीने ही शादी के लिए राजी हो गए। शादी में सेठ भी शरीक हुआ।

लक्खे की बीवी लक्खे की उम्र से छोटी ही नहीं, बेहद खूबसूरत भी थी।

गाँव वाले कहते, "लखिया, वोहटी तो तेरी इतनी सोहणी है कि हाथ लगाए मैली हो। रात को दीवा बालने की भी जरूरत नहीं तुझे।"

लक्खा सिंह की बीवी का नाम वैसे तो परमजीत था, पर गाँव की स्त्रियों ने आते-जाते उसे सोहणी कहकर बुलाना आरंभ कर दिया था। अब लक्खा भी उसे सोहणी कहकर ही बुलाने लगा। शादी के बाद जितने दिन वे गाँव में रहे या तो लक्खा सिंह की किस्मत के चर्चे थे या फिर उसकी बीवी की खूबसूरती के।

लक्खा सिंह खुद अपनी किस्मत पर हैरान और मुग्ध था।

छुट्टी बिताकर बीवी को संग लेकर जब वह काम पर लौटा तो सेठ बोला, "लक्खा सिंह, गोदाम वाला मकान और नौकरी तेरे लिए ठीक नहीं। अब तू अकेला नहीं है। साथ में तेरी बीवी है। तू ऐसा कर, गढ़वाल में मेरा एक कारखाना है। वहाँ एक आदमी की जरूरत भी है। तू वहाँ चला जा। रहने को मकान का भी प्रबंध हो जाएगा। कोई दिक्कत हो तो बताना।"

प्रत्युत्तर में लक्खा सिंह कुछ नहीं बोला, दाढ़ी खुजलाता रहा।

"मेरी राय में तू बीवी को लेकर वहाँ चला ही जा। तेरे जाने का प्रबंध भी मैं कर देता हूँ। पहाड़ों से घिरा खुला इलाका है, तुझे और तेरी बीवी को पसंद आएगा।"

सेठ की बात सुनकर लक्खा सिंह बोला, "घरवाली से पूछकर बताता हूँ।"

सेठ के पास उसका ड्राइवर भी बैठा था। लक्खा सिंह का उत्तर सुनकर बोला, "पूछना क्या ? तू जहाँ ले जाएगा, वह चुपचाप चली

जाएगी। तेरी बीवी है वो। लोग पहाड़ों पर हनीमून मनाने जाते हैं। समझ ले, तू भी हनीमून मनाने जा रहा है। हनीमून का हनीमून और नौकरी की नौकरी !" कहकर ड्राइवर हँस पड़ा।

लक्खा सिंह सेठ की बात मान गया।

पहाड़ों और जंगलों से घिरी कलाल घाटी। इसी घाटी की तराई में जंगल से सटा था सेठ का छोटा-सा लकड़ी का कारखाना। कस्बे और आबादी से दूर। शान्त वातावरण और समीप ही बहती थी- मालन नदी। लकड़ी के लिए जंगल के ठेके उठते। पेड़ काटे जाते और दिन-रात चलती आरा मशीनें रुकने का नाम न लेतीं। कटी हुई लकड़ी जब कारखाने के अंदर जाती, तो फिर खूबसूरत वस्तुओं में तब्दील होकर ही बाहर निकलती- विभिन्न प्रकार की कुर्सियों, मेजों, सोफों, पलंगों और अलमारियों के रूप में ! ट्रकों पर लादकर यह सारा फर्नीचर शहर के गोदामों में पहुँचा दिया जाता। तैयार माल की देखरेख और उसे ट्रकों पर लदवाकर शहर के गोदामों में पहुँचाने का काम करता था- प्रताप, चौड़ी और मजबूत कद-काठी वाला युवक।

सेठ के कहे अनुसार इसी प्रताप से मिला लक्खा सिंह इस कलाल घाटी में, सेठ के फर्नीचर कारखाने पर। प्रताप ने उसे मैनेजर से मिलवाया। मैनेजर ने प्रताप से कहा, "प्रताप, सरदार जी को पाँच नंबर वाले मकान पर ले जा। सरदार जी वहीं रहेंगे।" फिर, लक्खा सिंह की ओर मुखातिब होकर बोला, "सरदार जी, आज आप आराम करें। सफर में थक गए होंगे। कल से काम पर आ जाना।"

कारखाने से कोई एक कोस दूर पहाड़ी पत्थर से बने थे पाँच-छह मकान। खुले-खुले। प्रताप उन्हें जिस मकान में ले गया, वह सबसे पीछे की ओर था। उसके पीछे से जंगल शुरू होता था। जंगल के पीछे पहाड़ थे। मकान खुला और हवादार था। पहले छोटा-सा बरामदा, फिर एक बड़ा कमरा, उसके बाद रसोई और आखिर में पिछवाड़े की तरफ शौच-गुसलखाना। आगे और पीछे की खुली जगह को पाँचेक फीट ऊँची दीवार से घेरा हुआ था।

लक्खा सिंह सचमुच पहाड़ की खुली वादी को देखकर खुश था। मकान देखकर और भी खुश हो गया। लेकिन, लक्खा सिंह की घरवाली घबराई हुई थी।

"मैंने नहीं रहना यहाँ, इस जंगल-बियाबान में... देखो न, कोई भी चोर-लुटेरा आगे-पीछे की दीवार कूदकर अंदर घुस सकता है। आप तो चले जाया करोगे काम पर, पीछे मैं अकेली जान... न बाबा न !"

सोहणी के डरे हुए चेहरे को देखकर लक्खा सिंह मुस्करा दिया। बोला, "ओ सोहणियो, पंजाब की कुड़ी होकर डर रहे हो ?"

प्रताप ने समझाने की कोशिश की, "नहीं भाभी जी, आप घबराओ नहीं। चोरी-डकैती का यहाँ कोई डर नहीं। बेशक खिड़की-दरवाजे खुले छोड़कर चले जाओ। हाँ, कभी-कभी साँप जरूर घर में घुस आता है।"

"साँप !"

सोहणी इस तरह उछली जैसे सचमुच ही उसके पैरों तले साँप आ गया हो।

लक्खा सिंह भी साँप की बात सुनकर सोच में पड़ गया और मन-ही-मन बुदबुदाया - यहाँ भी साँप ने पीछा नहीं छोड़ा।

सोहणी बहुत घबरा गई थी। लक्खा सिंह की ओर देखते हुए बोली, "सुनो जी, वापस दिल्ली चलो... सेठ से कहो, वह वहीं गोदाम पर ही काम दे दे। हमें नहीं रहना यहाँ साँपों के बीच। साँपों से तो मुझे बड़ा डर लगता है जी।"

लक्खा सिंह ने प्रेमभरी झिड़की दी, "ओए, पागल न बन। कुछ दिन रहकर तो देख। कोई साँप-सूँप नहीं डसता तुझे।" फिर घबराई हुई बीवी के कंधे पर अपना हाथ रखकर बोला, "अगर आ ही गया तो देख लूंगा। बड़े साँप मारे हैं मैंने अपने पिंड में...।"

"अच्छा तो मैं चलता हूँ। कोई तकलीफ हो तो बुला लेना। मैं सामने वाले दो मकान छोड़कर तीसरे में रहता हूँ।" जाते-जाते प्रताप ने कहा, "वैसे मैं सारा दिन घर पर ही रहता हूँ। सुबह थोड़ी देर के लिए कारखाने जाता हूँ और लौट आता हूँ। फिर शाम को चार-पाँच बजे जाता हूँ। बस, दिनभर में यही दो-ढाई घंटों का काम होता है मेरा।"

सेठ के कारखाने में मैनेजर को मिलाकर कुल सात लोग काम करते थे। रघबीर, कांती और दिलाबर फर्नीचर तैयार करते थे जबकि बंसी और मुन्ना का काम वार्निश, रंग-रोगन आदि का था। प्रताप का काम था- तैयार माल की देखरेख करना और उसे शहर के गोदामों में भेजना। लक्खा सिंह को फर्नीचर तैयार करने के काम पर लगा दिया गया था।

लक्खा सिंह सुबह काम पर चला जाता और शाम को लौटता। दिनभर सोहणी घर पर अकेली रहती, डरी-डरी, सहमी-सहमी-सी। लक्खा सिंह लौटता तो उसका डर से कुम्हलाया चेहरा देखकर परेशान हो उठता। अंधेरा होने के बाद तो सोहणी रसोई की तरफ जाने से भी डरती थी। शौच-गुसल तो दूर की बात थी। लक्खा सिंह ने टार्च खरीद ली थी। बिजली न होने के कारण दिये की मध्दम रोशनी में सोहणी नीचे फर्श पर पैर रखते हुए भी भय खाती थी। हर समय उसे लगता मानो साँप उसके पैरों के आस-पास ही रेंग रहा हो। रस्सी का टुकड़ा भी उसे साँप प्रतीत होता।

कुछ ही दिन में लक्खा सिंह ने महसूस किया कि सोहणी के चेहरे का सोहणापन धीमे-धीमे पीलेपन में बदलता जा रहा है। लक्खा सिंह उसके भीतर के डर को निकालने की बहुत कोशिश करता, उसे समझाता मगर सोहणी थी कि उसका डर जैसे उससे चिपट गया था- जोंक की तरह। वह हर बार दिल्ली लौट चलने की बात करती। इतवार को लक्खा सिंह की छुट्टी हुआ करती थी। उस दिन वह सोहणी को शहर ले जाता। उसे घुमाता, गढ़वाल के प्राकृतिक दृश्य दिखलाता। मालन नदी पर भी ले जाता। सोहणी घर से बाहर जब लक्खा सिंह के संग घूम रही होती, उसके चेहरे पर से डर का साया उतर जाता। वह खुश-खुश नज़र आती। लेकिन, घर में घुसते ही सोहणी का सोहणा चेहरा कुम्हलाने लग पड़ता।

सोहणी के इसी डर के कारण लक्खा सिंह अब दिन में भी एक चक्कर घर का लगाने लगा था। साथ काम करते कारीगर उससे चुस्की लेते तो मैनेजर भी उनमें शामिल हो जाता।

एक दिन प्रताप भी मैनेजर के पास बैठा था जब लक्खा सिंह ने दोपहर को घर हो आने की इजाजत मांगी।

"सरदार जी, माना आपकी नई-नई शादी हुई है, पर उस बेचारी को थोड़ा तो आराम कर लेने दिया करो।" मैनेजर मुस्कराकर बोला।

"ऐसी कोई बात नहीं है जी... वो तो बात कुछ और ही है। दरअसल..." कहते-कहते लक्खा सिंह रुक गया तो दिलाबर बोल उठा, "दरअसल क्या ?... साफ-साफ क्यूँ नहीं कहता कि बीवी की याद सताने लगती है।"

मुन्ना और कांती एक साथ हँस पड़े।

"नहीं जी, दरअसल बात यह है कि मेरी घरवाली को हर समय साँप का डर सताता रहता है।"

"साँप का डर ?" रघबीर ने हैरानी प्रकट की।

"बात यह है जी कि पहले दिन ही प्रताप ने कह दिया था कि घर में साँप घुस आते हैं कभी-कभी। मेरी बीवी को साँपों से बड़ा डर लगता है। बेचारी दिन भर डरी-डरी-सी रहती है।"

"क्यों प्रताप ? यह क्या बात हुई ? तूने लक्खा सिंह की बीवी को डरा दिया।" मैनेजर ने पास बैठे प्रताप के चेहरे पर नज़रें गड़ाकर हँसते हुए पूछा।

"मैंने झूठ कहाँ कहा ? साँपों का घर में घुस आना तो यहाँ आम बात है।" प्रताप ने सफाई दी। फिर उसने लक्खा सिंह के आगे एक प्रस्ताव रखा, "लक्खा सिंह जी, इतना घबराने की जरूरत नहीं। मैं पास ही रहता हूँ। अगर ऐसी ही बात है तो दिन में मैं देख आया करूँगा भाभी को।"

लक्खा सिंह को प्रताप की बात जँच गई, बोला, "तुम्हारी बड़ी मेहरबानी होगी।"

एक डेढ-माह बाद लक्खा सिंह ने महसूस किया कि सोहणी के चेहरे पर अब पहले जैसा डर नहीं रहा है। अब शाम को अंधेरा हो जाने के बाद पिछवाड़े की ओर वह अकेली चली जाती थी। यह देखकर लक्खा सिंह ने राहत की साँस ली थी।

एक दिन दोपहर में काम नहीं था। लक्खा सिंह का मन घर पर हो आने को हुआ। काफी दिनों से वह दिन में घर पर गया भी नहीं था। मैनेजर से कहकर वह घर की ओर चल पड़ा।

घर पर प्रताप सोहणी से बातें कर रहा था। सोहणी खुश नज़र आ रही थी। सोहणी को खुश देखकर लक्खा सिंह भी खुश हो गया।

"लक्खा सिंह जी, अब आप चिंता न करें। इनका डर अब खत्म होता जा रहा है। अगर मुझे मालूम होता कि ये साँप से इतना ही डरती हैं तो मैं साँप वाली बात करता ही नहीं।" प्रताप लक्खा सिंह को देखकर बोला।

"नहीं जी, डर तो मुझे अभी भी लगता है। साँप का क्या भरोसा जी, कब आ जाए। जब से दिन में एक-दो बार प्रताप भाई आकर पता कर जाते हैं, थोड़ा हिम्मत-सी बंध गई है।" सोहणी ने कहा।

कुछ देर बाद प्रताप चला गया तो लक्खा सिंह ने देखा, सोहणी के चेहरे पर रौनक थी। वह ऐसी ही रौनक उसके चेहरे पर हर समय देखना चाहता था।

"सोहणियों ! मलाई दे डोनियों !! आज तो बड़े ही सोहणे लग रहे हो..." कहकर लक्खा सिंह ने सोहणी को अपने आलिंगन में ले लिया।

"हटो जी, आपको तो हर वक्त मसखरी सूझती रहती है।" सोहणी लजाते हुए अपने आपको छुड़ाते हुए बोली।

पहले तो सोहणी दिन के उजाले में ही रात का खाना बना लिया करती थी ताकि रात को रसोई की तरफ न जाना पड़े। लक्खा सिंह से भी उजाले-उजाले में घर लौट आने की जिद्द करती थी। लेकिन, अब ऐसी बात न थी। शाम को अंधेरा होने पर जब लक्खा सिंह लौटता तो वह रसोई में अकेली खड़ी होकर खाना बना रही होती। दिन में धोकर पिछवाड़े की रस्सी पर डाले गए कपड़े रात को सोने से पहले खुद ही उतार लाती।

जाड़े के सुहावने दिन शुरू हो गए थे। गुनगुनी धूप में बैठना अच्छा लगता था। ऐसी ही एक गुनगुनी धूप वाले दिन लक्खा सिंह दोपहर को काम पर से आ गया। सोहणी की खनखनाती हँसी घर के बाहर तक गूँज रही थी। बेहद प्यारी, मन को लुभा देने वाली हँसी ! जैसे गुदगुदी करने पर बच्चे

के मुख से निकलती है। वह हँसी लक्खा सिंह को बड़ी प्यारी लगी। लेकिन, वह अकेली क्यों और किस बात पर हँस रही है ? वह सोचने लगा। तभी पुरुष हँसी भी उसे सुनाई दी। घर पर प्रताप था। लक्खा सिंह को यूँ अचानक आया देखकर दोनों की हँसी गायब हो गई।

"वो जी... आज... मैंने साँप देखा... गुसलखाने में। मैं तो जी डर के मारे काँपने ही लगी..." सोहणी के स्वर में कंपन था, "कि तभी प्रताप भाई आ गए। इन्होंने ही उसे भगाया।"

"भगाया ? मारा क्यों नहीं ?"

"मैं तो मार ही देता, पर वह बचकर निकल गया।" प्रताप के मुख से निकला।

सोहणी फिर पुरानी रट पकड़ने लगी, "जी, मैंने नहीं रहना यहाँ। आज तो देख ही लिया साँप... कभी आप आओगे तो मरी पड़ी मिलूंगी मैं... ।"

"पगली है तू, एक साँप देखकर ही डर गई।"

उस दिन लक्खा सिंह दुबारा काम पर नहीं गया। प्रताप से मैनेजर को कहलवा दिया।

रघबीर के बेटा हुआ तो उसने सभी को लड्डू खिलाए। पिछले बरस ही उसकी शादी हुई थी।

"लो भई, रघबीर ने तो लड्डू खिला दिए। लक्खा सिंह जी, तुम कब मुँह मीठा करवा रहे हो ?" मैनेजर ने आधा लड्डू मुँह में डाल, आधा हाथ में पकड़कर लक्खा सिंह से प्रश्न किया।

"हम भी करवा देंगे जल्दी ही अगर रब्ब ने चाहा तो..." लक्खा सिंह लकड़ी पर रंदा फेरते हुए मुस्कराकर बोला।

"सिर्फ मुँह मीठा करवाने से बात नहीं बनेगी। पार्टी होगी, पार्टी...।" बंसी अपने हाथ का काम रोककर कहने लगा।

"अरे, इसके तो जब होगा तब देखी जाएगी, पहले रघबीर से तो ले लो पार्टी। लड्डू से ही टरका रहा है।" मुन्ना भी बोल उठा।

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं..." रघबीर ने कहा, "पर तुम सबको मेरे घर पर चलना होगा, बच्चे के नामकरण वाले दिन।"

खूब अच्छी रौनक लगी नामकरण वाले दिन रघबीर के घर। लक्खा सिंह सोहणी को लेकर प्रताप के संग पहुँचा था। उधर कांती भी अपनी पत्नी को लेकर आया था। मैनेजर, दिलाबर, बंसी और मुन्ना पहले ही पहुँचे हुए थे। रघबीर ने दारू का भी इंतजाम किया हुआ था। बंसी को छोड़कर सभी ने पी। लक्खा सिंह की सोहणी और कांती की बीवी घर की स्त्रियों के संग घर के कामकाज में हाथ बंटाती रही थीं। खाने-पीने के बाद शाम को घर की स्त्रियाँ ऑंगन में दरी बिछाकर ढोलक लेकर बैठ गईं। रघबीर ने ऑंगन में एक ओर दो चारपाइयाँ बिछा दीं जिन पर मैनेजर, दिलाबर, मुन्ना, बंसी, लक्खा और प्रताप बैठ गए और स्त्रियों के गीतों का आनंद लेने लगे। तभी, प्रताप अपनी जगह से उठा और एक स्त्री के पास जाकर उसके कान में कुछ फुसफुसाया।

अब सभी स्त्रियाँ सोहणी को घेर कर बैठ गईं। वह 'न-नुकर' करने लगी तो लक्खा सिंह बोल उठा, "सोहणियों, सुना भी दो अब...।"

काफी देर तक लजाती-सकुचाती सोहणी ने आखिर ढोलक पकड़ ही ली।

इसके बाद तो सब चकित ही रह गए। खुद लक्खा सिंह भी। सोहणी जितनी अच्छी ढोलक बजाती थी, उतना ही अच्छा गाती थी। उसने पंजाब के कई लोकगीत सुनाए। एक के बाद एक।

आजा छड्ड के नौकरी माहिया
कल्ली दा मेरा दिल न लग्गे...

पिप्पल दिया पतिया केही खड़-खड़ लाई वे...
पत्त झड़े पुराणें, रुत नवियां दी आई वे...
पिप्पल दिया पतियाँ, तेरियाँ ठंडियाँ छाँवाँ...
झिड़कदियाँ ससाँ, चेते आउंदियाँ ने माँवाँ...

ऐधर कणकाँ, ओधर कणकाँ

विच्च कणकाँ दे टोया
माही मेरा बुड्ढा जिहा
देख के दिल मेरा रोया...
लै लो दाल फुल्लियाँ, लै लो दाल-छोले...

इस गीत को सोहणी ने जिस अंदाज में गाया, उससे सभी खिलखिलाकर हँस पड़े। मैनेजर लक्खा सिंह की जाँघ पर हाथ मारकर बहुत देर तक हँसता रहा।

अब ढोलक कांती की घरवाली को देकर सोहणी उठकर खड़ी हो गई और चुन्नी को कमर में बांधकर गिध्दा डालने लग पड़ी।

बारी बरसीं खटण गिया सी,
खट के लियादाँ ताला
तेरे जिहे लख छोकरे...
मेरे नाम दी जपदे माला...

सोहणी को नाचते देख लक्खा सिंह और प्रताप भी खड़े होकर नाचने लगे। महफिल में रंगत आ गई।

गिद्धे विच नचदी दी गुत्त खुल जाँदी आ
डिगिया परांदा देख सप्प वरगा
तेरा लारा वे शराबियाँ दी गप्प वरगा

इस बार सोहणी ने लक्खा सिंह की ओर इशारा किया तो मैनेजर, प्रताप और मुन्ना की हँसी छूट गई।

मित्तरा पड़ोस दिया
कंध टप्प के आ जा तू
माही मेरा कम्म ते गिया...

लक्खा सिंह झूम उठा, "बल्ले-बल्ले ओ सोहणियों... खुश कर दित्ता तुसी तां..."

जब नाचते-नाचते सोहणी हाँफने लगी तो वह बैठ गई। लेकिन गाना उसने बन्द नहीं किया था। अब ढोलक फिर उसके हाथ में थी।

आ जोगिया, फेरा पा जोगिया...

साडा रोग बुरा हटा जोगिया...फेरा पा जोगिया
आ गिया नी, फेरा पा गिया नी
सानुं फनीअर नाग लड़ा गिया नी... जोगी आ गिया नी
आ गिया नी, फेरा पा गिया नी
सानुं रोग जुदाइयाँ दा पा गिया नी... जोगी आ गिया नी

सोहणी का यह रूप तो लक्खा सिंह ने देखा ही नहीं था। वह इतना उन्मुक्त होकर नाच-गा रही थी जैसे वह पंजाब में अपने गाँव में नाच-गा रही हो।

नीं सप्प लड़िया, मैंनूं सप्प लड़िया
जद माही गिया मेरा कम्म ते
घर विच आ वड़िया... सप्प लड़िया
मैंनूं सुत्ती जाण के अड़ियो
मंजे उत्ते आ चढ़िया... सप्प लड़िया

देर रात गए जब प्रताप, लक्खा सिंह और सोहणी घर की ओर लौट रहे थे तो सोहणी बेहद खुश और उमंग से भरी लग रही थी। रास्ते भर प्रताप उसकी तारीफें करता रहा और वह खिलखिलाकर हँसती रही। लगता था, उसके पाँव जमीन पर नहीं पड़ रहे थे, वह हवा में उड़ रही थी। इधर लक्खा सिंह मन-ही-मन सोच रहा था- साँपों से डरने वाली सोहणी के गीतों में साँप कहाँ से आ गए ?

दिलाबर की माँ बीमार थी और कांती को अपनी घरवाली को छोड़ने जाना था। इसलिए दोनों एक हफ्ते की छुट्टी लेकर चले गए थे। काम पूरा करने और समय पर देने के लिए मैनेजर ने डबल-शिफ्ट लगा दी थी। अब रात में भी काम होने लगा था।

शुरू में सोहणी ने इसका विरोध किया, बोली, "दिन तो जैसे-तैसे गुजर जाता है, रात में अकेले... मेरी तो जान ही निकल जाएगी।"

जब लक्खा सिंह ने मजबूरी बताई और कहा कि दो-चार दिन की ही बात है और चार पैसे बढ़कर ही मिलेंगे तो वह मान गई।

उस रात काम कोई अधिक नहीं था। रात ग्यारह बजे तक सब निबट गया था। मैनेजर के कहने पर लक्खा सिंह घर की ओर चल दिया। ठंडी हवा चल रही थी और पूरी वादी अंधकार में डूबी थी।

रात के समय सोहणी बाहर वाले दरवाजे में अंदर से ताला लगा लिया करती थी।

लक्खा सिंह ने दरवाजे की ओर हाथ बढ़ाया अवश्य था लेकिन वह हवा में ही लटककर रह गया था। तेज साँसों की आवाज उसके कानों में पड़ी थी। जैसे कोई साँप फुँकार रहा हो। वह घबरा उठा। तो क्या साँप ? सोहणी साँप के डर से काँप रही होगी। ऐसे में वह दरवाजा कैसे खोल सकती है ? वह सोच में पड़ गया। तभी, वह दीवार पर चढ़ गया। वह दबे पाँव घर में घुसना चाहता था, पर दीवार से कूदते समय खटका हो ही गया।

दीये का मध्दम प्रकाश कमरे में पसरा हुआ था। सोहणी बेहद घबराई हुई दिख रही थी। बिस्तर अस्त-व्यस्त-सा पड़ा था।

"क्या बात है सोहणी ? इतना घबराई हुई क्यों हो ? क्या साँप?.."

"हाँ-हाँ, साँप ही था... वहाँ... वहाँ बिस्तर पर..." घबराई हुई सोहणी के मुख से बमुश्किल शब्द निकल रहे थे, "मैं उधर जाती... वह भी उधर आ जाता। कभी इधर, कभी उधर... अभी आपके आने का खटका हुआ तो भाग गया।"

लक्खा सिंह ने हाथ में लाठी और टॉर्च लेते हुए पूछा, "किधर?... किधर गया ?"

"उधर... उस तरफ।" सोहणी ने घबराकर पिछवाड़े की ओर संकेत किया।

लक्खा सिंह ने टॉर्च की रोशनी पिछवाड़े में फेंकी। सचमुच वहाँ साँप था। काला, लम्बा और मोटा साँप ! दीवार पर चढ़ने की कोशिश करता हुआ।

"ठहर !" लक्खा सिंह के डोले फड़क उठे। उसने हाथ में पकड़ी लाठी घुमाकर दे मारी। एक पल को साँप तड़पा, फिर दीवार के दूसरी ओर गिर गया।

"जाएगा कहाँ बच के मेरे हाथों..." लक्खा सिंह टॉर्च और लाठी लिए दीवार पर चढ़ने लगा। तभी, सोहणी ने उसकी बांह पकड़ ली।

"क्या करते हो जी... छुप गया होगा वह जंगल की झाड़ियों में। जख्मी साँप वैसे भी खतरनाक होता है।"

जाने क्या सोचकर लक्खा सिंह ने अपना इरादा बदल दिया।

"बच गया सा...ला, नहीं तो आज यहीं ढेर कर देता।"

उस रात सोहणी जब उससे लिपटकर सोने का यत्न कर रही थी, लक्खा सिंह उसके दिल की धड़कन साफ सुन रहा था। कितना डरा रखा था इस साँप ने। अब हिम्मत नहीं करेगा। क्या सोहणी सचमुच ही साँप से डर रही थी ?

सुबह हल्की-हल्की बूंदाबांदी होती रही। आकाश में बादल ही बादल थे। ठंड भी बढ़ गई थी। बारिश कुछ थमी तो लक्खा सिंह कारखाने पहुँचा।

सेठ दिल्ली से आया हुआ था।

सेठ के एक ओर उसका ड्राइवर खड़ा था और दूसरी ओर काला कंबल ओढ़े प्रताप।

"क्या बात है प्रताप ?" सेठ प्रताप से पूछ रहा था

"कुछ नहीं सेठ जी, रात से तबीयत ठीक नहीं।"

"तबीयत ठीक नहीं ? दवा ली ? जा, जाकर आराम कर।" सेठ प्रताप से कह ही रहा था कि उसकी नज़र आते हुए लक्खा सिंह पर पड़ी।

"क्या हाल है लक्खा सिंह ? कोई तकलीफ तो नहीं ?"

"सब ठीक है सेठ जी, कोई तकलीफ नहीं।" पास आकर लक्खा सिंह ने कहा।

"कैसी है तेरी बीवी ?... उसका दिल लगा कि नहीं ?"

"ठीक है वह भी, पर..."

"पर क्या ?"

"कुछ नहीं सेठ जी, साँप ने उसे तंग कर रखा था। मेरे पीछे घर में घुस जाता था। कल रात मेरे हाथ पड़ गया। वो जोरदार लाठी मारी है कि अगर बच गया तो दुबारा घर में घुसने की हिम्मत नहीं करेगा।"

इधर लक्खा सिंह ने कहा, उधर कंबल लपेटे खड़े प्रताप के पूरे शरीर में कँपकँपी दौड़ गई और उसकी पीठ का दर्द अचानक तेज हो उठा।

आखिरी पड़ाव का दु:ख

न जाने रात का क्या बजा होगा। ऑंखों से नींद उड़ी पड़ी है और दिल से चैन। कभी बिस्तर पर उठकर बैठ जाती हूँ, कभी लेट जाती हूँ। कभी 'वाहे गुरु-वाहे गुरु' का पाठ करने लगती हूँ। गुरमीत और हरजीत की कल वाली बातें मेरे कानों में अभी भी गूंज रही हैं। मुझ बूढ़ी का कलेजा चाक हुआ पड़ा है तब से। हाय ओ रबा ! उम्र के आखिरी दिनों के लिए ये कैसा दु:ख बचा कर रखा था तूने !

छाती पर अचानक आ पड़े पहाड़ जैसे दु:ख को तो भरी जवानी में झेल गई थी जब बच्चों का बापू, मेरे सर का सांईं एक सड़क हादसे में चल बसा था। पीछे रह गई थी मैं अकेली, अपने दो छोटे-छोटे बच्चों के संग, बेसहारा ! शुक्र था कि वह एक कमरा और एक रसोई डालकर सिर-छिपाने का इन्तज़ाम कर गया था। मैंने कैसे अपने ऑंचल में इन बच्चों को संभाल कर रखा, यह मैं ही जानती हूँ या मेरा रब ! लोगों के घर जाकर बर्तन मांजने पड़े तो मांजे, कपड़े धोने पड़े तो धोये, खेतों में मज़ूरी करनी पड़ी तो की, गोबर-कूड़ा उठाना पड़ा, उठाया, पर किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया। खुद कम खाकर, बच्चों को भरपेट खिलाती रही। मेरे दो बेटे मेरी दो ऑंखें थीं, दो हाथ थे, दो पैर थे। इनके लिए जो कुछ कर सकती थी, मैंने किया। इन्हें पढ़ाया-लिखाया। मेहर हुई परमात्मा तेरी कि गुरमीत पढ-लिखकर एक स्कूल में टीचर लग गया और छोटा बेटा हरजीत दसवीं पास करके एक एजेन्ट के जरिये यू.के. चला गया।

हरजीत से मैंने जो उम्मीदें लगाई थीं, सो लगाई थीं, पर गुरमीत को अपने छोटे भाई से कुछ अधिक ही उम्मीदें थीं। उसने इधर-उधर से कर्जा पकड़कर एजेंट की जेबें भरी थीं और हरजीत को हवाई-जहाज पर चढ़ाया था। गांव के कई लड़के विदेश जा चुके थे। उनके घरों में अब टोर थी। कच्चे मकान कोठियों में बदल गए थे। घरवाले मारुतियों में घूमते-

फिरते हैं। पर हरजीत... उसने तो वहाँ जाकर पीछे की सुध ही नहीं ली। उसने वहीं विवाह करवा लिया। कहता था- विलैत में पक्का होने के लिए वहाँ की लड़की से शादी करना जरूरी था। शुरू-शुरू में वह पैसे भेजता रहता था - बड़े भाई गुरमीत को। फिर उसने पैसे भेजने बन्द कर दिए। गुरमीत के खतों का भी जवाब नहीं दिया उसने।

गुरमीत निकलते-घुसते कुढ़ता, गालियाँ निकालता, "हमारखोर ! वहाँ जाकर मेम की गोद में जा बैठा ! कोई फिक्र है उसे मेरे सर से कर्जा उतारने की ! ब्याज तो हनुमान की पूंछ-सा बढ़ता ही जाता है।"

फिर एक दिन हरजीत चुपचाप बगैर बताये इंडिया आ गया। पूरे पाँच बरस बाद वह लौटा था, वह भी अकेला। हरजीत आया था तो मेरे ऑंसू थमने का नाम नहीं ले रहे थे। पाँच बरस बाद जो उसकी सूरत देखने को मिली थी ! उसे बार-बार छाती से लगाकर उसका माथा चूमती रही, "रे हरजीते, तूने तो वहाँ जाकर मुझे बिलकुल ही भुला दिया। तुझे मेरी कभी याद नहीं आई रे ! और तू अकेला क्यों आया है ?... बहू को भी साथ ले आता। ऑंखें बन्द होने से पहले मैं भी तो देख लेती अपनी बहू को, कैसी दिखती है।"

गुरमीत और उसकी घरवाली ने हरजीत को खूब खरी-खोटी सुनाईं थीं। उलाहनें दिए थे। गुरमीत अपने सिर पर चढ़े कर्जे और बढ़ते ब्याज का रोना रोता रहा था। वे दोनों हरजीत पर सारे समय यही जोर डालते रहे कि अब आया है तो ऊपर दो कमरे डलवाकर जाए। लेकिन, हरजीत सिर्फ कोठे पर अंगरेजी बाथरूम बनवाकर और नीचे मकान का फर्श पक्का करवाकर लौट गया था, यह कहकर कि वह जल्द ही गुरमीत को पैसे भेजेगा- ऊपर कमरे डलवाने के लिए।

उन दिनों जितने दिन हरजीत रहा, मेरी पूछताछ होती रही। उसके लौट जाने के बाद फिर पहले जैसा हाल हो गया था।

जब तक हाथ-पैर चलते थे, मैं टिक कर नहीं बैठती थी। हर वक्त कुछ न कुछ काम मेरे हाथ में होता। घर की साफ-सफाई करती, झाड़ू-बुहारी करती, दो वक्त का खाना बनाती, बर्तन मांज देती, कपड़े धोकर कोठे पर डाल आती। बहू प्रीतो के सिर में बैठकर तेल झस देती। तब प्रीतो भी मुझसे खुश रहती थी। 'माँ जी-माँ जी' करती घूमती थी। लेकिन देह तो

देह है। उम्र के साथ-साथ थकने लगती है। हारी-बीमारियाँ इस पर हमला करने लगती हैं। मेरी देह ने भी धीरे-धीरे मेरा साथ देना बन्द कर दिया। घुटनों में दर्द रहने लगा। देह बिस्तर मांगने लगी। मैं इस छोटे-से कमरे में सिमट कर रह गई।

वैसे कमरा क्या है, एक छोटा-सा स्टोर है जिसमें एक पुरानी चारपाई पर मेरा बिस्तर लगा है। बिस्तर के सिरहाने की ओर थोड़ी-सी जगह है, जहाँ लकड़ी के एक टूटे हुए मेज को ईंटों के सहारे खड़ा करके उस पर छोटा-मोटा सामान रखा हुआ है। मेरी दवाई की शीशियाँ हैं, एक पुराना कांच की चिमनी वाला लैम्प है, एक छोटी-सी संदूकची है जिसमें मेरे कपड़े हैं। और इसी पर एक तरफ बच्चों के बापू का फोटो रखा है। बायीं दीवार से सटी हुई है मेरी चारपाई और उसके ऊपर है पीली रोशनी फेंकता बल्ब। दायीं तरफ थोड़ी-सी जगह आने-जाने के लिए बची हुई है। इसी ओर, सिरहाने की तरफ एक स्टूल पर पानी का जग, एक गिलास, एक चम्मच और एक कटोरी रखी है। दीवारों में न कोई खिड़की है, न रोशनदान। बस एक दरवाजा है जो कभी बन्द नहीं होता। कड़ाके की ठंड में भी मैं इसे बन्द नहीं करती। दरवाजा बन्द होने पर मेरी सांस घुटने लगती है। इस में पुरानी मोटी चादर का एक पर्दा हमेशा लटका रहता है जिसके कारण बाहर आने-जाने वाले व्यक्ति को अन्दर बिस्तर पर पड़ी मैं दिखाई नहीं देती। इस कमरे के साथ ही ऊपर कोठे पर जाने के लिए जीना बना है। जीने के नीचे छोटा-सा शौच-गुसलखाना है और पानी की एक टूटी लगी है। इसे अब मैं ही इस्तेमाल करती हूँ। घर के बाकी सदस्यों के लिए कोठे पर अंगरेजी स्टाइल में बड़ा-सा बाथ-रूम है। जीने से आगे एक बड़ा कमरा है और एक रसोई। गुरमीत, उसकी पत्नी और दोनों बच्चे इसी में रहते हैं। घर में घुसते-निकलते हर आदमी को मेरे कमरे के आगे से ही होकर जाना पड़ता है।

कुछ बरस पहले जब मेरी तबीयत ठीक हुआ करती थी, मैं कमरे से बाहर निकलकर छोटे-से आंगन में बैठ जाया करती थी, कभी घर से बाहर निकलकर गली में भी चली जाती थी। पर जबसे बिस्तर पर पड़ी हूँ और घुटनों में दर्द रहने लगा है, बिस्तर मुझे नहीं छोड़ता और मैं बिस्तर को नहीं छोड़ती। बस, तभी उठती हँ, जब मुझे हल्का होना होता है। अपने बिस्तर पर पड़ी छत को निहारती रहती हूँ या फिर दीवारों को। या फिर 'वाहे गुरु-वाहे गुरु' का जाप करती रहती हूँ। पहले मैं अक्सर अपने आप

से बातें करती रहती थी। या कह लो, दीवारों के संग बातें किया करती थी। सुना है, दीवारों के भी कान होते हैं। वे सुन सकती हैं। पर दीवारों के मुँह नहीं होते। वे बातें नहीं करतीं।

अब कोई मेरे कमरे में नहीं घुसता, मेरा हालचाल नहीं पूछता, न बेटा और न बहू। बिंदर और जिंदर, गुरमीत के दोनों बेटे कभी-कभार पर्दा उठाकर मेरे कमरे में आ घुसते थे, मेरे बिस्तर पर बैठकर खेला करते थे तो मुझे बड़ा अच्छा लगता था। मैं बच्चों के संग बातें करके खुश हुआ करती थी। मेरा वक्त अच्छा गुजर जाता था। लेकिन, जबसे मैं बीमार पड़ी हूँ, बच्चों ने भी मेरे पास आना बन्द कर दिया है। शायद, बहू ने ही रोक दिया हो। पहले गुरमीत दफ्तर जाते समय और दफ्तर से लौटते वक्त मेरे पास घड़ी भर के लिए ज़रूर बैठा करता था। मेरा हालचाल पूछता था। दवाई के बारे में पूछता था।

लेकिन, आहिस्ता-आहिस्ता उसने भी हालचाल पूछना, मेरे पास बैठना बन्द कर दिया। छुट्टी वाले दिन एक-दो बार अवश्य पर्दा उठाकर झांक लेता है। पर अब कोई मेरी बात नहीं पूछता। एक गूंठ में पड़ी हूँ, आलतू-फालतू सामान-सी !

'वाहे गुरु... पालनहार ! किरपा कर... बुढ़ापे में नरक न दिखा...'

कई दिनों से मेरी दवा खत्म हुई पड़ी है। कोई इधर झांके तो उससे कहूँ। इन्होंने तो मुझे बिलकुल ही 'छिनक' दिया है जैसे। 'अरे निर्मोहियो, कभी पर्दा उठाकर मुझ करमजली को भी एक नज़र देख लिया करो, जीती हूँ कि मरी...'

कभी-कभी सोचती हूँ कि क्यूँ कलपती हूँ मैं... जो किस्मत मेें लिखा है, वो तो भोगना ही है... यह क्या कम है कि दो वक्त की रोटी मिल रही है... घर से बाहर तो नहीं फैंक रखा... परमात्मा का शुक्र मना कि बहू पर्दे के नीचे से खाने की थाली सरका जाती है, बर्तन उठाकर ले जाती है। क्या हुआ जो कभी पास बैठकर या घड़ी भर खड़े होकर बात नहीं करती। इधर मैं भी न जाने क्या-क्या बातें दिल में लिए बैठी रहती हूँ उससे साझा करने के लिए, पर वह है कि मौका ही नहीं देती।

पहले मैं बिस्तर पर पड़े-पड़े बहू या बच्चों को हांक लगाती रहती थी। कभी पानी के लिए, कभी रोटी के लिए, कभी दवा के लिए या फिर टट्टी-पेशाब जाने के लिए। आवाज लगाते-लगाते मेरा गला सूख जाता, पर कोई झांकता नहीं था मेरी ओर। हार कर मैने ही हांकें लगानी बन्द कर

दीं। खुद सोटी उठाकर घुटने पर हाथ रखकर उठती हूँ, नलके पर से पानी लेती हूँ, या फिर हल्का हो आती हूँ। अब तो मुझे आदत-सी पड़ गई है।

'वाहे गुरू, तू ही बख्शणहार...'

दायीं तरफ की दीवार पर एक कैलेंडर टंगा है- गुरु नानक देव जी का। जब भी कैलेंडर की ओर देखती हूँ, मुझे लगता है, बाबा नानक मेरी तरफ ही देख रहे हैं और मुस्करा रहे हैं। मैं 'वाहेगुरु-वाहेगुरु' करते हुए अरदास करती हूँ- "हे सच्चे पातशाह ! बुढ़ापे में और दुख न दिखा। अपने पास बुला ले। अब बरदाश्त नहीं होता।"

कभी मेज पर रखी गुरमीत-हरजीत के बापू की फोटो को निहारने लगती हूँ। उससे बातें करने लगती हूँ-"देख रहा है न तू ! तेरे जाने के बाद मेरी क्या दुर्गत हो रही है ?"

पिछले दो-तीन दिनों से घर में चहल-पहल-सी है। गुरमीत भी मेरा हालचाल पूछने आने लगा है। कभी-कभी बच्चे भी आकर झांक जाते हैं। मेरी दवा भी आ गई है। मैं हैरान हूँ। फिर पता चलता है कि हरजीत इंग्लैंड से आ रहा है, बहू और बच्चों के संग, पन्द्रह दिन के लिए। यह खबर सुनकर मैं खुश हो जाती हूँ, 'चलो, रब ने आँखें बन्द होने से पहले हरजीत और उसके बच्चों को देखने का सुख तो बख्शा!'

हरजीत आया तो घर में रौनक-सी हो गई। हरजीत की पत्नी पूरी मेम है। उसके बच्चे बहुत सुन्दर हैं- गोल-मटोल से, गोरे-चिट्टे। वे भी गुरमीत के बच्चों के संग पर्दा उठा-उठाकर मेरे कमरे में जब-तब झांकते रहते हैं। हरजीत की पत्नी ने दो-तीन बार मेरे कमरे में आकर मेरे संग बातें की हैं। अंगरेजी में न जाने क्या गिट-पिट करती रही, मेरी समझ में कुछ नहीं आया। बीच-बीच में पंजाबी - हिन्दी के एक-दो शब्द ज़रूर मेरे कान में पड़े। पर उसका मेरे संग बात करना मुझे अच्छा लगा। मेरा मन किया कि वह मेरे पास ही बैठी रहे।

पिछले कुछ दिनों से मुआं पेशाब बहुत आ रहा है। रात को दो-तीन बार मुझे उठना पड़ता है। घुटनों के दर्द के कारण जान निकल जाती है मेरी ! मन करता है, कमरे के बाहर वाली नाली पर ही बैठ जाऊँ, पर बहू की झिड़कों से डरती नहीं बैठती। एक बार बैठी थी तो अगली सुबह बहू ने नाक-मुँह को दुप्पटे से ढककर मेरी वो आरती उतारी थी कि मैं तौबा-तौबा

कर उठी। परसों रात जब मैं पेशाब के लिए बाहर निकली तो गुरमीत के कमरे से झगड़ने की आवाजें आ रही थीं। गुरमीत और उसकी घरवाली तेज आवाज में हरजीत से झगड़ रहे थे। मैं हल्का होकर गुरमीत के कमरे की ओर बढ़ी। मन में आया, दरवाजा खुलवाकर उनसे कहूँ-"पुत्तर ! क्यूँ झगड़ते हो आपस में ? जो बात करनी है, आराम से बैठकर करो।... इतनी रात गए ऊँची आवाज में झगड़ रहे हो, पड़ोसी भी क्या सोचते होंगे..." फिर, न जाने क्या सोच कर कमरे के बाहर ही खड़ी रही, सोटी के सहारे। भीतर की आवाजें मुझे साफ सुनाई दे रही थीं-

"तू तो अच्छा गया, यहाँ से ! जाते वक्त तो कहता था, पैसा भेजूंगा- ऊपर दो कमरे डलवाने के लिए।" प्रीतो, गुरमीत की घरवाली हरजीत को ताना मार रही थी।

"हाँ, नहीं भेज सका। मेरा भी अब परिवार है। बहुत मंहगाई है वहाँ। गुजारा मुश्किल से होता है।" हरजीत की आवाज थी।

"और जो मैंने लाखों का कर्जा उठाकर तुझे बाहर भेजा, तो क्या इसीलिए भेजा था कि तू वहाँ जाकर मौजें करें और इधर मैं तेरा कर्जा उतारता फिरूँ। मेरा परिवार, मेरे बच्चे नहीं हैं क्या ?" गुरमीत बहुत गुस्से में लग रहा था।

"उतार दूंगा सारा कर्जा, पर धीरे धीरे।"

"इतने साल हो गए तुझे वहाँ गए, क्या किया तूने ? गांव के दूसरे घरों के लड़के भी तो बाहर गए हैं। दो-चार साल में गांव में हवेली डाल ली उनके घरवालों ने। घरवाले भी बारी-बारी से हवाई जहाज पर चढ़कर विदेश घूम आए हैं। एक तू है, पहले तो पाँच साल तक शक्ल नहीं दिखाई। पाँच साल बाद आया भी तो बस बाथरूम बनवाकर और फर्श डलवाकर चलता बना। फिर चार साल गचका मार गया। न पैसा भेजा, न किसी चिट्ठी का जवाब दिया।" गुरमीत लगातार बोले जा रहा था।

"तुम लोगों को तो मेरे पौंड ही नज़र आते हैं। अरे, एक-एक पौंड के लिए कैसे देहतोड़ मेहनत मुझे वहाँ दिन-रात करनी पड़ती है, यह मैं ही जानता हूँ। तुम यहाँ बैठे क्या जानो ?"

"तो शादी करने की क्या जल्दी पड़ी थी तुझे ! कुछ पैसा-वैसा कमा लेता, इधर का कर्जा उतार लेता, फिर कर लेता शादी, बसा लेता परिवार।..."

"भाजी, शादी नहीं करता तो वहाँ ठहर नहीं सकता था। शादी की है तो पक्का हुआ हूँ। पक्का होने के लिए यहाँ से ब्याहे गए आदमी भी वहाँ शादियाँ करवाते हैं। नहीं ंतो...।" हरजीत सफाई दे रहा था।

"पर मैं तो कर्जे के ब्याज से मरा पड़ा हूँ, मूल तो ज्यों का त्यों छाती पर पहाड़-सा पड़ा है। मेरी जान आफत में आई पड़ी है। कर्जा देने वाले ताने मारते हैं। कहते हैं- अब तो तेरा भाई विदेश में कमा रहा है, अब कैसी कमी तुझे पैसों की ! देख भाई, तू मेरे सर से ये कर्जा उतार ताकि मैं भी दो सांसे सुख की ले सकूँ।" गुरमीत की आवाज रोनी-सी हो उठी थी।

"हिसाब से देखो तो इस मकान में मेरा भी हिस्सा है। समझ लो, मैंने वह छोड़ दिया।" हरजीत का स्वर भी तेज हो उठा।

"ओए, हिस्सा तू कल लेता हो, आज ले ले।" गुरमीत की आवाज तेज हो उठी, "चला है, हिस्सा मांगने! अरे मैं कर्जा उठाकर तुझे न भेजता तो देखता कैसे जाता तू बाहर।... मैं यहाँ जो इतने सालों से माँ को रखे हूँ, उस पर तेरा भी कोई फर्ज बनता है। ले जा उसे अपने संग। और मेरा कर्जा उतार दे, बस। और कुछ नहीं चाहिए मुझे।"

"माँ को मैं कैसे ले जा सकता हूँ।" हरजीत का स्वर धीमा हो आया था, "माँ, वहाँ नहीं रह पाएगी। वो यहीं ठीक है। मैं उसकी देखभाल के पैसे भेज दिया करुँगा।"

"उँह ! पैसे भेज दूँगा... यह तूने अच्छी कही। अरे कर्जे के पैसे तो उतारे नहीं जा रहे तेरे से, माँ की देखभाल के लिए तू पैसे भेजेगा ?" गुरमीत जैसे अन्दर से भरा बैठा था।

मेरे से और अधिक वहाँ खड़ा होना कठिन हो गया, तो मैं चुपचाप आकर अपने बिस्तर पर लेट गई थी। रात देर गए तक दोनों भाइयों के लड़ने की आवाजें आती रही थीं।

कल दोपहर हरजीत मेरे पास काफी देर तक बैठकर बातें करता रहा। हरजीत ने जो कुछ मुझसे कहा, वह सुनकर मेरी तो ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे रह गई। 'हाय रब्बा ! यह मैं क्या सुन रही हूँ ? यह सुनने से पहले मैं मर क्यों न गई ं? वाहे गुरु ! तू ये कैसा बदला ले रहा है मुझसे। जिन बच्चों के लिए मैंने अपनी जिन्दगी गला दी, उफ्फ तक नहीं की, वही यह सब सोचे बैठे हैं।'

शाम को गुरमीत भी आकर हरजीत वाली बात मुझे समझाने की कोशिश करता रहा।

मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। मेरा तो कलेजा चाक हुआ पड़ा था। ऑंखों से ऑंसू झर-झर बह रहे थे, "दुख देणे, अपनी माँ को ही बोझ समझने लगे है...।" मेरे मुँह से आवाज नहीं निकल रही थी। मैं अन्दर ही अन्दर गिड़गिड़ा रही थी, "पुत्तर, मैं तुम्हें कुछ नहीं कहती। जब तक दो सांसें बची हुई हैं, मुझे इसी कमरे में अपने पास रहने दो... मुझ बूढ़ी को इस आखिरी वक्त में क्यों अपनी ऑंखों से ओझल करते हो ?... मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे बस यहीं रहने दो, परमात्मा के वास्ते। वाहे गुरु तुम्हारी और तुम्हारे बच्चों को लम्बी उम्र दे।..."

'हे सच्चे पातशाह, इस आखिरी वक्त में ये नरक न दिखा।' मैं मन ही मन अरदास करती हूँ।

बिस्तर पर पड़ी-पड़ी मैं करवटें बदल रही हूँ। निगोड़ी नींद को क्या हो गया है ? जाने क्यों रूठी बैठी है। वह भी क्या करे ? जब दिल में हाहाकार मचा हो, तो वह कैसे पास फटक सकती है। मेरे पेट जाये ये गुरमीत और हरजीत इतने निर्मोही कैसे हो गए ?... उम्र के इस आखिरी पड़ाव में यह दु:ख भी देखने को मिलेगा, मैंने ख्वाब में भी नहीं सोचा था। मेरी ऑंखों के आगे गुरमीत और हरजीत के बचपन के दिन आ खड़े होते हैं।

उनके बचपन की एक घटना स्मरण हो आती है। गुरमीत और हरजीत दोनों ने नंबरदारों के लड़के को पीट दिया था। नंबरदारनी उलाहना लेकर आई थी मेरे पास। वह उछल-उछल कर पड़ रही थी। कहती थी, "तेरे बेटों की हिम्मत कैसे हुई, हमारे लड़के को हाथ लगाने की ! अगर फिर कभी हाथ लगाया, तो इनके हाथ-पैर तोड़ देंगे।" नंबरदारनी जब खूब अबा-तबा बोलकर चली गई तो मैंने दोनों बेटों की खबर ली थी। ऑंखों में ऑंसू भरकर उन दोनों को खूब डांटा था, "रे तुमने क्यों इन नंबरदारों के लड़के से पंगा लिया। मुझे गांव में रहने देना है कि नहीं।" इस पर गुरमीत ने कहा था, "माँ, कोई मुझे कुछ कह ले, बापू को कुछ कह ले, पर तुझे कोई कुछ कहे, यह मैं बरदाश्त नहीं कर सकता। चाहे वो नंबरदारों का बेटा ही क्यों न हो।" हरजीत भी आगे बोला था, " माँ, वो हमें माँ की

गाली देता था, हम कैसे चुप रहते ?... तुझे कोई गाली निकाले, हम उसका मुंह तोड़ देंगे।"

अपने बेटों की बात सुनकर मेरी छाती चौड़ी हो गई थी। यही गुरमीत कहा करता था, " माँ, तू फिकर न कर। मुझे बड़ा हो लेने दे। फिर तुझे कभी काम नहीं करने दूंगा। बस, तू बिस्तर पर बैठी हुक्म किया करना, मैं तेरा हुक्म बजाया करूँगा।"

आज बिस्तर पर पड़ी मैं वही माँ हूँ, पर बेटे वे नहीं रहे। आज मैं इनके लिए बोझ बन गई हँ। सारी उम्र मैं यही कोशिश करती रही कि मेरे बच्चे सुखी रहें। सारे दु:ख अपनी छाती पर झेलती रही कि इन्हें कोई दु:ख-तकलीफ न हो। माँओं की छातियाँ होती ही इसलिए हैं। पहले बच्चों को दूध पिलाती हैं, फिर उनके दु:ख-दर्द अपने ऊपर झेल लेती हैं !

मेरी नज़रें बाबा नानक के कैलेंडर की ओर उठ जाती हैं। फिर मेज पर रखी गुरमीत-हरजीत के बापू की फोटो पर। मुझे लगता है मानो वे दोनों मुझसे कुछ कह रहे हों, "अपने बच्चों के सुख चाहने वाली सुखदेई ! अब भी तू बच्चों के सुख के बारे में ही सोच ! अगर इन्हें इसी बात में सुख मिलता है, तो तू इनके सुख में विघ्न न बन। वे तुझे वृध्द-आश्रम ही तो छोड़ने जा रहे हैं, रूड़ी(कूडे) पर फेंकने तो नहीं..."

बाहर चिड़ियाँ चहचहाने लगी हैं। शायद, भोर का समय हो गया है। 'वाहे गुरु-वाहे गुरु' करती मैं घुटनों पर हाथ रखकर उठ खड़ी होती हूँ, संदूकची में से अपने दो जोड़ी कपड़े निकालती हूँ, उन्हें एक थैले में रखती हूँ। अपनी दवा, गिलास, कटोरी और चम्मच समेटती हूँ। दीवार पर से बाबा नानक का कैलेंडर उतारकर रख लेती हूँ। मेज पर रखे फोटो में गुरमीत-हरजीत का बापू हँस रहा है - "मुझे यहीं छोड़े जा रही हो, सुखदेई!" मेरी ऑ खें गंगा-जमना हो उठती हैं। मैं मेज पर से फोटो उठाकर उसे दुप्पटे के पल्लू से पोंछते हुए बुदबुदाती हूँ, "नहीं, तेरा यहाँ क्या काम? तू भी चल मेरे संग !"

लौटना

छुट्टी की एक सुबह और संजना का फोन

जिस समय फोन की घंटी बजी, सुबह के नौ बज रहे थे और के.के. बिस्तर में था। छुट्टी का दिन होने के कारण वह देर तक सोना चाहता था। बड़े बेमन से लेटे-लेटे उसने फोन का चोगा उठाया और 'हैलो' कहा। दूसरी तरफ की आवाज को पहचानने में उसे कोई परेशानी नहीं हुई। संजना थी। संजना का 'हैलो' कहने का अंदाज ही कुछ ऐसा था कि के.के. के कानों में मधुर-मधुर घंटियाँ बजने लगती थीं। पर, आज यह 'हैलो' बहुत धीमी थी और उदासी के गहरे समन्दर में डूबी हुई लग रही थी। वह बिस्तर पर उठकर बैठ गया। दीवार से पीठ लगाकर और गोद में तकिया रखकर उसने पूछा, "क्या बात है ? बेहद उदास लग रही हो। तबीयत तो ठीक है ?"

"हाँ, तबीयत तो ठीक है।"

"फिर बता, कैसे याद किया सुबह-सुबह ?"

"बस, यूँ ही। सोचा, तुमने तो याद करना ही छोड़ दिया, मैं ही कर लूँ।" संजना की आवाज़ में एक उलाहना था, प्यारा-सा। वह इस उलाहने की वजह जानता था, उसने पूछने की कोशिश नहीं की।

"आज कोई काम तो नहीं तुझे ?" संजना ने पूछा।

"क्यों ? बता।" के.के. ने पूछा जबकि वह कहना तो चाहता था कि तू हुक्म कर, बंदा तो तेरे लिए हर वक्त हाज़िर है।

"खाली है तो आ जा।"

"कोई खास बात ?" उसे फिर लगा, उसने गलत प्रश्न कर दिया है। वह इतने प्यार से बुला रही है, कोई न कोई तो बात होगी। उसने मन ही मन अपने आप को झिड़का।

"नहीं, कोई खास बात नहीं। बस, कुछ दिनों से कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा। शायद, तुझसे मिलकर और दो बातें करके दुनिया अच्छी लगने लग जाए।" इसके साथ ही एक हल्की-सी हँसी की खनक दूसरी तरफ से सुनाई दी, जबकि के.के. को इस हँसी में भी उदासी का रंग मिला हुआ प्रतीत हुआ। एक खूबसूरत उदास-सा चेहरा उसकी ऑंखों के सामने तैर गया। वह बेसब्र हो उठा। उसने इस उदास चेहरे के निमंत्रण को तुरन्त स्वीकार कर लिया। पूछा, "कब आऊँ ?"

"जब चाहे आ जा। मैं घर पर ही हूँ। पर मैं चाहती हूँ,दोपहर का खाना तू मेरे साथ खाये।"

"ठीक है, मैं पहुँचता हूँ तेरे पास, ग्यारह बजे तक।"

संजना से पिछली मुलाकात और के.के. का ग्लानिबोध

बिस्तर से निकला तो अनेक छोटे-मोटे काम जिन्हें वह छुट्टी के दिन के लिए मुल्तवी कर दिया करता था, मुँह बाये उसके सामने खड़े हो गए। पूरा घर अस्त-व्यस्त पड़ा था, जैसाकि छड़े लोगों का हुआ करता है। किसी को ब्याह कर लाया होता तो यह घर यूं बेतरतीब ढंग से बिखरा-बिखरा न होता। दीवार घड़ी पर नज़र पड़ते ही सबसे पहले पानी भर लेने की चिन्ता उसे हुई। शुक्र था, पानी अभी आ रहा था। उसने खाली हो चुके ड्रम और दो बाल्टियों को भरने के बाद फ्रिज की खाली बोतलें एक-एक करके भरीं। फिर छोटे-मोटे काम तुरत-फुरत निपटाये। रात के खाने के बर्तन उठाकर धोये। नहा-धोकर तैयार हुआ, एक कप चाय बनाई, दो स्लाइस गरम किए। चाय पीते हुए वह संजना के बारे में ही सोचता रहा। जैसे यही कि पिछले दिनों संजना से उसकी मुलाकात कब और कहाँ हुई थी। शायद, दो-ढाई महीने पहले वे दोनों एक पार्टी में थोड़ी देर के लिए

मिले थे। बत्तरा ने अपने विवाह की पांचवीं सालगिरह पर एक पार्टी रखी थी अपने घर पर। बत्तरा की बीवी बहुत खूबसूरत थी। और कभी वह अपने घर पर बुलाये, न बुलाये, पर शादी की सालगिरह पर अपने कुछ खास मित्रों को अवश्य आमंत्रित करता था। इस दिन उसकी बीवी ठीक उसी तरह ब्यूटी-पार्लर जाकर सजती-संवरती थी, जैसे शादी के दिन सजी-संवरी होगी। उस पार्टी में वह समय से पहुँचा था और एकाएक बहुत ज़रूरी काम याद आ जाने पर पार्टी बीच में ही छोड़कर जा रहा था कि तभी, संजना का प्रवेश हुआ था। इस पर बत्तरा ने चुटकी ली थी, "मि. कृष्ण कुमार उर्फ के.के., तुम्हारी संजना पार्टी में क्या पहुँची कि तुम पार्टी छोड़कर भाग रहे हो। कुछ झगड़ा-वगड़ा हो गया क्या ?" उस वक्त, बत्तरा का 'तुम्हारी संजना' कहना उसे अच्छा नहीं लगा था। अभी वह कुछ कहने ही जा रहा था कि संजना करीब आ गई थी। के.के. द्वारा पार्टी बीच में छोड़कर जाने की बात मालूम होने पर संजना ने कहा था, "मैं इतनी बुरी तो नहीं के.के. कि मुझे आया देख, तू पार्टी छोड़कर भाग रहा है।" संजना की आवाज़ गम्भीर और ठहरी हुई थी, पर उसके अधरों पर महीन-सी मुस्कराहट भी थी जिससे वह समझ नहीं पाया कि संजना ने यह बात हँसी में कही थी या गम्भीर होकर।

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। दरअसल, मुझे एक बहुत ज़रूरी काम है, इसीलिए जा रहा हूँ। पर तू इतनी लेट क्यों ?"

"तुझे पार्टी के दौरान ज़रूरी काम है, मुझे पार्टी से पहले ज़रूरी काम था।"

"अच्छा संजना, मैं लेट हो रहा हूँ। मैं मिलूंगा तुझे जल्द ही या फिर फोन करूँगा।" कहकर वह चला आया था। लेकिन, अपनी व्यस्तताओं के कारण न वह संजना से मिल सका, न ही फोन पर बात कर सका। इसी वजह से वह अपने अन्दर एक ग्लानिबोध को महसूस कर रहा था।

संघर्ष भरे दिन और संजना का साथ

के.के. जब घर से बाहर निकला तो बहुत जोरों की बारिश हो रही थी। दरअसल, बूंदाबांदी तो कल रात से ही हो रही थी। लेकिन, बाहर ऐसी झमाझम बारिश हो रही होगी, अपने कमरे से निकलते हुए उसने सोचा न था। कुछ देर खड़े रहकर उसने बारिश के थमने या धीमी हो जाने का इन्तजार किया। किन्तु ऐसा होने की उम्मीद न के बराबर थी। वह ताला खोलकर फिर घर में घुसा और छतरी लेकर बाहर रोड पर आ गया। उसकी किस्मत अच्छी थी कि इतनी बारिश में भी उसे जल्द ही ऑटो मिल गया, वरना दिल्ली में ऑटो ! वह भी इतनी बारिश में ! असम्भव-सी बात थी।

इधर, मूसलाधार बारिश में ऑटो सड़क पर दौड़ रहा था, उधर उसके जेहन में पुरानी स्मृतियाँ दौड़ लगा रही थीं। यह महानगर के.के. के लिए बहुत नीरस और उदास कर देने वाला होता, अगर उसे संजना न मिलती। एक ही कालेज से एम.ए. की पढाई दोनों ने साथ-साथ की थी। कालेज के आरंभिक दिनों में हुई हल्की-सी जान-पहचान धीरे-धीरे सघन और सुदृढ़ होती चली गई थी। संजना किताब के पन्नों की तरह उसके सामने खुलती चली गई। हर मुलाकात में वह अपनी छोटी-बड़ी बात के.के. से साझा करके खुद को हल्का महसूस करती थी। बचपन में ही संजना के माँ-बाप चल बसे थे। उसे उसकी मौसी ने पाल-पोसकर बड़ा किया था। वह मौसी की कृतज्ञ थी कि उसने उस बेसहारा को सहारा दिया, पढ़ाया-लिखाया, किन्तु वह अक्सर अपने मौसा को लेकर परेशान रहती थी। वह के.के. से कई बार कह चुकी थी कि उसका मन करता है कि वह मौसी का घर छोड़ दे और किराये पर एक छोटा-मोटा कमरा लेकर अलग रहने लगे। पर ऐसा करना दिल्ली जैसे शहर में उसके लिए तब तक असंभव था, जब तक वह खुद न कमाने लगे। ऐसा नहीं था कि पढाई के साथ-साथ उसने पार्ट टाइम काम की खोज नहीं की हो। उसकी इस कोशिश में के.के. भीं मदद करता रहा था, पर कोई ढंग का काम नहीं मिल सका था।

दिल्ली महानगर में जिस संघर्ष से संजना जूझ रही थी, कमोबेश के.के. भी वैसे ही संघर्ष से जूझ रहा था। वह यहाँ एक सपना लेकर बिहार

के एक गाँव से आया था, पढ़ाई-लिखाई और अच्छे रोजगार की तलाश में। शुरू के दिन बहुत ही कठिन और भयानक थे उसके। कई-कई दिन तो फाकाकशी रहती। हिम्मत जवाब दे जाती और वह अपने सपने को बीच में ही छोड़कर गाँव लौट जाना चाहता। वह दिल्ली की धरती पर अपने पैर रखना चाहता था, पर दिल्ली रखने नहीं दे रही थी। पैर जमने की तो बात ही अलग थी। रेलवे-प्लेटफार्म, सड़कों के फुटपाथ, दिल्ली के गुरद्वारे ही उसका रैन-बसेरा थे। उन दिनों दिल्ली का कोई भी गुरद्वारा ऐसा नहीं था, जहां का लंगर छककर उसने अपने पेट की आग को शान्त न किया हो।

हनुमान-कृपा और प्रेम की फूटती कोंपलें

जैसे-तैसे एम.ए. की पढ़ाई पूरी करने के बाद, वे दोंनों जोर-शोर से नौकरी की तलाश में जुट गए। दोनों एक साथ फार्म भरते, परीक्षाओं में बैठते, इंटरव्यू देते और हर मंगलवार कनॉट-प्लेस स्थित हनुमान मंदिर में प्रसाद चढ़ाते।

इसे हनुमान-कृपा कहिये या उनका भाग्य कि इधर संजना का दिल्ली के ही एक बैंक में पी.ओ. के रूप में चयन हो गया और उधर के.के. को भी इसी शहर में एक प्रायवेट फर्म में नौकरी मिल गई। रूठी-रूठी-सी रहने वाली दिल्ली ने अपने ऑं चल में थोड़ी-सी जगह देना स्वीकार कर लिया था। नौकरी लगने के एक माह बाद ही संजना ने मौसी का घर छोड़ दिया और किराये का मकान लेकर अलग रहने लगी। के.के. रैगरपुरा के जिस बदबूदार सीलन भरे छोटे-से कमरे में किसी के संग रहता था, उसने भी पहाड़गंज में एक छोटा-सा कमरा किराये पर ले लिया था। शाम को आफिस से छूटने के बाद या अवकाश के दिनों में वह और संजना एक-दूसरे से मिलते रहे। दिल्ली अब उन्हें खुशनुमा लगने लगी थी। हर शुक्रवार को लगने वाली नई फिल्म वे एकसाथ देखते, कोई अच्छी प्रदर्शनी लगी होती, कोई सांस्कृतिक या साहित्यिक कार्यक्रम होता, या फिर कोई सेल लगी होती, दोनों पहले से तय करके वहाँ पहुँच जाते।

यही वे दिन थे जब के.के. के मन में संजना को लेकर कुछ-कुछ होने लगा था। उसने महूसस किया था कि उसके मन में संजना के लिए कोई जगह बनती जा रही है। एक खास जगह। संजना का साथ उसे पहले से अधिक अच्छा लगने लग पड़ा था। उसके संग अधिक से अधिक समय बिताने को वह खुद को आतुर पाने लगा। शायद, उसके मन में संजना को लेकर एक चाहत पैदा हो गई थी। जब भी संजना उससे मिलती, वह उसकी ऑ खों में झांककर यह जानने की कोशिश करता कि क्या ऐसी ही चाहत उधर भी है।

के.के. का टूटना और संजना की उड़ान

इन्हीं दिनों उसने महसूस किया कि संजना के ख्वाब कुछ बड़े और ऊँचे हो गए थे। वह कुछ ऊँची ही उड़ानें भरने लग पड़ी थी। वह अब समझने लग गया था कि संजना उसे एक अच्छे दोस्त से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहती। अपने इस अहसास के साथ वह कई दिनों तक तड़पता रहा। फिर, उसने धीरे-धीरे अपनी मुलाकातों को सीमित करना आरंभ कर दिया। एक दिन संजना ने इस बारे में नाराजगी जाहिर की और उसे हनुमान मंदिर पर मिलने के लिए कहा। न चाहते हुए भी वह उस शाम संजना से मिला। संजना का खिला हुआ चेहरा बता रहा था कि वह बहुत खुश थी। पहले उसने मंदिर में प्रसाद चढ़ाया और फिर बाहर निकलकर जैसे मचल-सी उठी। बोली, "के.के., आज मैं बहुत खुश हूँ।" फिर हाथों पर मेंहदी लगवाती लड़कियों की ओर देखकर बोली, "सुनो, मैं भी मेंहदी लगवा लूँ ?" के.के. के शान्त चेहरे को देखकर उसने चुहल की, "ओ देवदास महाराज, कुछ बोलो भी।"

"..."

"अच्छा, नहीं लगवाती। चलो, काफी होम चलते हैं। वहीं बैठकर बातें करते हैं।" वह उसकी बाजू पकड़कर खींचते हुए काफी होम की ओर बढ़ने लगी थी। काफी होम में वह उसकी बगल में बैठने लगी तो उसने कहा, "सामने बैठो।"

"क्यों ?" संजना ने चौंककर पूछा।

"बगल में बैठती हो तो मैं तुम्हारा चेहरा ठीक से देख नहीं पाता।"

उसकी दलील सुनकर वह खिलखिलाकर हँसने लगी। सामने वाली कुर्सी पर इत्मीनान से बैठकर वह बोली, "अब ठीक ! क्या देखना है मेरे चेहरे में ? इतने दिनों से देखते आ रहे हो, दिल नहीं भरा ?"

के.के. ने कोई जवाब नहीं दिया।

"आज तुम बहुत खुश नज़र आ रही हो। क्या बात है ?" आखिर, के.के. ने अपनी खामोशी को तोड़ा और काफी का आर्डर देने लगा।

"हूँ....। बात ही कुछ ऐसी है।" संजना का चेहरा और अधिक दिपदिपाने लगा।

"क्या ?"

"मैं शादी करने जा रही हूँ ?" फिर, वह काफी की चुस्कियों के बीच उत्साह में भरकर बताती रही, "मेरे बैंक के मैनेजर राकेश ने मुझे शादी के लिए प्रपोज किया है और बहुत-सोच विचार के बाद मैंने हाँ कर दी है। अब हम जल्द ही विवाह-सूत्र में बंधने वाले हैं।"

एक खरोंच जैसी तकलीफ को के.के. ने अपने अन्दर महसूस किया लेकिन चेहरे से इस तकलीफ को जाहिर नहीं होने दिया।

कुतरे हुए पंख और धराशायी सपने

न तो के.के. को ही पता था, और न संजना ही यह जानती थी कि जिस खुले आकाश में वह उड़ान भरने के लिए इतनी लालायित है, वही आकाश उसकी उड़ान को परवान नहीं करेगा। वह एकाएक पंख कटे पंछी की तरह नीचे धरती पर आ गिरी थी। उसके सारे सपने चकनाचूर हो गए थे। वह बहुत उदास और दुखी रहने लगी थी। अपने इन्हीं उदास और दुखी क्षणों में उसने के.के. को एक दिन बताया था कि राकेश ने उसके संग अच्छा नहीं किया। वह बैंक की नौकरी छोड़कर अमेरिका चला गया था किसी मल्टीनेशनल कम्पनी में और वहीं उसने शादी कर ली थी।

संजना को इस झटके से उबरने में काफी समय लगा। लगभग दो बरस। धीरे-धीरे संजना नार्मल होती गई और उसने ज़िन्दगी को फिर एक नये सिरे से जीने की कोशिश की। जल्द ही उसके होंठों पर हँसी वापस

लौट आई। एक बार फिर उदासियों की जगह ऑंखों में हसीन सपने तैरने लगे। पता नहीं, के.के. को उस समय कैसी अनुभूति हुई थी जब संजना ने उसे बताया था कि वह जल्द ही विवाह करने जा रही है। शहर का एक युवा व्यापारी जो उसके बैंक में अक्सर आया करता था और जिसका नाम वेदपाल था, इन दिनों उसके सपनों का शहजादा बन चुका था। संजना ही ने के.के. को बताया था एक दिन कि वह वेदपाल के साथ एकबार शिमला भी हो आई थी। उन दिनों के.के. की मुलाकातें संजना से बहुत कम होती थीं, पर वह जब भी मिलती, उसे लगता जैसे संजना के पैर धरती पर नहीं पड़ रहे हैं। वह हवा में उड़ती नज़र आती।

एक हसरत दिल में लिए माँ का चले जाना

के.के ने अब अपने आप को समेटना शुरू कर दिया था। उसकी मुलाकातें संजना से न के बराबर होने लगीं। गाँव से पिता का पत्र आया था। माँ बहुत बीमार चल रही थी। पिता ने उसे पटना के एक सरकारी अस्पताल में दिखाया था। कोई आराम नहीं आया था। वह चाहते थे कि के.के. कुछ दिनों का अवकाश लेकर गाँव आए और माँ से मिल जाए। अभी वह गाँव जाने की जुगत बना ही रहा था कि एक सुबह माँ को लेकर पिता दिल्ली आ पहुँचे। साथ में के.के. की छोटी बहन सुमित्रा थी। माँ की तबीयत वाकई बहुत खराब थी और बहुत कमजोर हो गई थी। पिंजर लगती थी। वह माँ को ऐम्स में ले गया। माँ सप्ताह भर वहाँ भर्ती रही। दिन में पिता उसके पास रुकते, रात में सुमित्रा। रात में पिता घर आते तो गुमसुम से एक ओर बैठ जाते या फिर अकेले में रोने लगते। वह उन्हें समझाने और दिलासा देने की कोशिश करता तो वे फूट-फूटकर रोने लगते।

"हम जानत है, तुम्हार माई अब नाहीं बचत। डाक्टर कहत रहीं, इसका पेट मां कैन्सर हई।"

"बापू तुम दिल न छोटा करो। माई को कुछ नहीं होगा। ठीक हो जाएगी।"

"कितनी चाहत रही उसका मन मां तुहार शादी की, तुहार बीवी-बच्चन का मुंह देखन की। कहत रही, किशनवा शादी नाहीं करावत तो सुमित्रा को ही ब्याह दो।"

सुमित्रा शादी योग्य हो चुकी थी। पिता ने एक दो जगह बात भी चलाई थी पर सफलता नहीं मिली थी। वह सोच रहा था, उसने इस ओर ध्यान क्यों नहीं दिया। अब वह इस ओर ध्यान देगा। बहन की शादी करेगा। मां का इलाज करेगा। मां ठीक हो जाएगी, घर आ जाएगी तो अपनी शादी की भी सोचेगा। पर माँ ठीक नहीं हुई। उसकी मृत देह ही अस्पताल से घर आई। फूट-फूट कर रोते पिता को, बहन को और अपने आपको वह बमुश्किल शान्त कर पाया। माँ एक हसरत दिल में लिए इस दुनिया से कूच कर गई थी। माँ की मौत से एक दिन पहले की शाम के वे क्षण उसे याद हो आए, जब वह अस्पताल में माँ के सिरहाने एक स्टूल पर बैठा माँ का चेहरा एकटक देख रहा था। माँ भी पथराई-सी नजरों से उसकी ओर ही देख रही थी। उन ऑंखों में कुछ था। माँ उससे कुछ कहना चाहती थी, पर शब्द गले के भीतर ही उमड़-घुमड़ कर जैसे दम तोड़ रहे थे। माँ के बांये हाथ में कंपन हुआ था तो उसने उस हाथ को अपने दोनों हाथों में ढक लिया था। इन्हीं भावुक क्षणों में माँ की ऑंखों में तैरते प्रश्नों के उत्तर खोजते हुए उसे संजना की बेहद याद आई थी।

पिता माँ की लाश गाँव में ले जाना चाहते थे। मगर उसने पिता को समझा-बुझाकर राजी कर लिया था। माँ का दाह-संस्कार यहीं दिल्ली में किया गया।

वह तो चाहता था कि पिता और बहन यहीं उसके पास रहें। गाँव में रखा भी क्या था। खेत-जमीन थी नहीं, बस एक छोटा अधकच्चा-सा मकान था। पिता बंटाई पर खेती करते थे। उसमें सालभर का बमुश्किल गुजारा हो पाता था। कभी फसल खराब भी हो जाती थी। पर पिता उसकी बात नहीं माने थे। वह बहन को लेकर गाँव लौट गए थे। जाते समय बोले थे, "बस बेटा, किसी तरह बहिन की शादी की सोचो और अपनी भी। तुहार उमर भी निकरी जात है।"

संजना से पुन: मुलाकात

माँ के निधन के बाद जब पिताजी और समित्रा गाँव लौट गए तो के.के. खुद को बहुत अकेला महसूस करने लगा। संजना से मिले काफी समय हो चुका था। न उसका फोन आया था, न ही के.के. ने स्वयं किया था। वह संजना को भूल जाना चाहता था। वह सोचता- संजना ने वेदपाल से शादी कर ली होगी। मालूम नहीं वह दिल्ली में है भी कि नहीं। उसकी पीड़ा इस बात की भी थी कि संजना ने उसे अपनी शादी पर बुलाया तक नहीं था।

एक दिन अचानक संजना से उसकी भेंट हो गई। जब मिला तो संजना पर-कटे पंछी की तरह धरती पर लहुलूहान-सी गिरी मिली। वह बेहद दुबली हो गई थी और बीमार-सी लग रही थी। उसकी ऑंखों में उदासी का रेगिस्तान पसरा हुआ था। के.के. से मिलकर उसकी ऑंखें सजल हो उठी थीं। फिर न जाने क्या हुआ कि वह के.के. के सीने पर अपना सिर टिकाकर बहुत देर तक रोती रही। इस बार वेदपाल ने उसे धोखा दिया था। वह पहले से विवाहित था और उसके दो बच्चे थे। संजना के सपने एकबार फिर धराशायी हुए थे। वह डिप्रेशन की शिकार हो गई थी। गुमसुम-सी रहने लगी थी। मन होता तो खा लेती, नहीं तो नहीं। कभी दफ्तर चली जाती, कभी नहीं। कई-कई दिन, घर की चाहरदीवारी में बन्द पड़ी रहती। किसी को फोन करने, दोस्तों-परिचितों से मिलने की चाहत खत्म-सी हो गई थी।

माँ की बरसी के बाद सुमित्रा का विवाह हो गया। पिता अब उस पर जोर डाल रहे थे कि वह भी जल्द ही शादी कर ले। एक-दो घरों से आये रिश्तों के बारे में भी उन्होंने के.के. को बताया था। पर के.के. ने 'हाँ' या 'ना' में कुछ भी नहीं कहा था।

उस मुलाकात के बाद वह फिर संजना से काफी लम्बे समय तक न मिल सका। अचानक उसे कम्पनी की ओर से मुम्बई जाना पड़ा था। मुम्बई प्रवास के दौरान उसको संजना की कई बार याद आई। कई बार फोन करने को उसका मन हुआ। मगर भीतर कहीं कोई टीस थी, किसी

टूटन की किरच शेष थी कि वह चाहकर भी उससे कोई बात नहीं कर पाया।

दिल्ली लौट आने पर उसने संजना से मिलने की कोशिश की। वह उससे मिलने उसके घर गया था। लेकिन संजना घर बदल चुकी थी और उसका नया पता और फोन नम्बर उसके पास नहीं था। चाहता तो उसके बैंक जाकर मालूम कर सकता था, परन्तु, उसके मन ने, जाने क्यों उसे ऐसा करने नहीं दिया।

दिन गुजर रहे थे। संजना की याद के.के. के दिलोदिमाग से आहिस्ता-आहिस्ता धूमिल हो रही थी कि एक दिन वह उसको फिर अचानक मिल गई। एक मंदिर के बाहर। वह मंदिर से बाहर निकल रही थी, जब के.के. की निगाह उस पर पड़ी। उसे देखकर वह हैरान रह गया। क्या यह वही संजना है ? उसके चेहरे की रंगत बिगड़ी हुई थी। कपड़े भी साधारण से। हाथ में प्रसाद का लिफाफा और माथे पर तिलक। वह उसके सामने जा खड़ा हुआ तो वह चौंक उठी।

"संजना, यह तुझे क्या हुआ है ?"

"मुझे क्या होना है ? अच्छी-भली तो खड़ी हूँ तेरे सामने।" उसने लिफाफे में से प्रसाद निकालते हुए उससे कहा, "ले, प्रसाद ले।"

के.के. ने प्रसाद लेकर मुँह में डाल लिया। इससे पहले कि वह कोई और बात करता, वह बोली, "तू बता, कहाँ था इतने बरस ? विवाह करवा लिया होगा ? मुझे बुलाया तक नहीं। चल कोई बात नहीं। अब अपनी बीवी से मिलवा दे। मुझसे तो अच्छी ही होगी। क्यों ?"

एक क्षण को उसे लगा था कि संजना अपनी इन बातों के पीछे मानो अपने किसी दर्द को छिपा रही हो।

"तुम सारे सवाल यहीं खड़े-खड़े करोगी ? चल, कहीं बैठते हैं।" के.के. ने कहा।

"कहीं क्यों ? चल, मेरे घर चल। यहीं करीब ही रहती हूँ मैं।"

बातचीत में मालूम हुआ कि संजना अकेली ही रहती थी और अब उसने विवाह का विचार त्याग दिया था। अब वह बैंक में मैनेजर हो गई थी। दो-तीन रिश्ते आये भी थे, पर संजना ने ही ना कर दी।

इसके बाद संजना से उसकी दो बार मुलाकात हुई। एक बार वह किसी काम से उसके बैंक में गया था तब और दूसरी बार बत्तरा के घर पार्टी में। उसके बाद संजना से वह नहीं मिल पाया था, न ही फोन पर कोई बात हो पाई थी।

अकेलेपन का खौफ और संजना का तीसरा फैसला

ऑटो जब संजना के घर के बाहर रुका, बारिश और तेज हो गई थी। ऑटो से उतर कर जीने तक जाते-जाते छाते के बावजूद के.के. भीग गया था। सीढ़ियाँ चढ़कर जब वह ऊपर पहुँचा, संजना उसकी ही प्रतीक्षा कर रही थी।

"मुझे उम्मीद थी कि तू ज़रूर आएगा, इतनी तेज बारिश में भी।"

संजना ने उसे तौलिया पकड़ाया तो वह हाथ-पैर पौंछ कर सोफे पर बैठ गया। सामने टी.वी. चल रहा था, धीमी आवाज में। पता नहीं कौन-सा चैनल था। कोई भगवे वस्त्रों वाली औरत गले में कीमती मनकों की माला पहने प्रवचन कर रही थी। जल्द ही संजना चाय बना लाई और के.के. के सामने वाले सोफे पर बैठ गई। वह शायद कुछ देर पहले ही नहाई थी। उसके गीले बाल खुले हुए थे। हल्के नीले रंग का सूट उस पर खूब फब रहा था। चाय पीते हुए दो-चार बातें इधर-उधर की हुईं। फिर वह रसोई में चली गई। वह सोफे से उठकर खिड़की के समीप जा खड़ा हुआ।

बारिश रुक गई थी। पानी से नहायीं सड़कें चमक रही थीं और पेड़-पौधे निखरे हुए थे। खिड़की से हटकर वह साथ वाले कमरे में चला गया। यह बैडरूम था। पलंग पर अंग्रेजी के दो अखबार बिखरे पड़े थे। सिरहाने एक खुली हुई किताब उलटाकर रखी हुई थी, जैसे कोई पढ़ते-पढ़ते छोड़ देता है। किताब के कवर पर किसी जाने-माने बाबा का फोटो था। किताब का टाइटल देखकर वह चौंका। जीवन में सुख और शान्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है, इस विषय पर किताब में उस बाबा के प्रवचन थे शायद। सामने की दीवार पर दृष्टि पड़ी तो वह और अधिक हैरान हुआ। किताब वाले बाबा की एक बहुत बड़ी तस्वीर दीवार पर टंगी थी। तस्वीर में बाबा आँखें मूंदे बैठा था और उसका एक हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में उठा हुआ था।

दोपहर के दो बज रहे थे जब उसने और संजना ने मिलकर लंच किया। संजना के हाथ का बना खाना वह पहली बार खा रहा था। खाना बेहद उम्दा था। उसने तारीफ की तो प्रत्युत्तर में संजना हल्का-सा मुस्करा भर दी।

भोजन के उपरान्त दोनों के बीच बातों का सिलसिला आरंभ हुआ। पहले इधर-उधर की बातें होती रहीं। धीरे-धीरे संजना अपने बारे में बातें करने लग पड़ी। बचपन से अब तक जीवन में जो कुछ वह खोती रही, उसका दर्द उसके भीतर कहीं इकट्ठा हुआ पड़ा था। जीवन में आये उतार-चढ़ाव, सुख-दुख, आशा-निराशा के पलों को याद करते हुए वह ढेर सारी बातें उसके साथ साझा करती रही। अपने धराशायी हुए सपनों को लेकर, अपने एकाकीपन को लेकर, अपने अवसाद के क्षणों को लेकर वह रुक-रुककर बता रही थी। महानगर में रहती एक अकेली स्त्री के भीतर ऐसे क्षणों में क्या उठापटक होती है, उन पर चर्चा कर रही थी। वह बेहद शांत और स्थिर मन से उसकी हर बात सुन रहा था। बीच-बीच में वह कहते-कहते अपने आप को रोक भी लेती थी। के.के. को लगता, जैसे संजना अपने आप को अनावृत्त करते-करते कुछ छिपाने की कोशिश भी करने लगती है। वह क्या है, जिसे वह कहना चाहती है, पर कह नहीं पा रही है। आखिर, उसने पूछ ही लिया, "संजना, मुझे लगता है, तेरे अन्दर कोई बात है, जिसे तू आज मुझसे शेयर करना चाहती है। पर कुछ है जो तुझे ऐसा करने से रोक भी रहा है। क्या बात है, बता तो।"

वह संजीदा हो उठी। पहले उसने एकटक के.के. की ऑंखों में झांका, फिर कितनी ही देर तक सामने दीवार पर शून्य में ताकती रही। फिर उसने धीमे-धीमे कहना प्रारंभ किया।

"के.के., जिन्दगी मेरे संग हमेशा धूप-छांव का खेल खेलती रही। जब भी कोई खुशी मेरे करीब आने को होती है, पीछे-पीछे गम के बादल भी आ खड़े होते है। जिसे मैंने दिल से चाहा, वही मुझे दगा देता रहा। मैं अपने आप में सिमट कर रह गई। अपनी तन्हाई, अपने अकेलेपन को ही अपना साथी बनाने की कोशिश करती रही। पर अकेलापन कितना

खौफनाक होता है, कई बार जिन्दगी में, इसे मैंने पिछले दिनों ही महसूस किया है।"

वह ऐसे बोल रही थी, जैसे वह के.के. के करीब न बैठी हो, कहीं दूर बैठी हो। उसके बोल रुक-रुककर बेहद मंद आवाज में के.के. तक पहुँच रहे थे।

"के.के. पिछले कुछ महीनों से मैं अकेलेपन के खौफ में जी रही हूँ। एक डर हर समय मेरा पीछा करता रहता है। लोग मुझे अजीब निगाहों से देखते हैं। हर व्यक्ति मुझे मुफ्त की चीज समझता है। कितना कठिन है, एक अकेली लड़की का महानगर में रहना ! घर, दफ्तर, बाजार, शहर में कहीं भी मैं होऊँ, मेरे भीतर की औरत डरी-डरी, सहमी-सहमी-सी रहती है। बहुत कोशिश की है मैंने इस भय से मुक्त होने की, पर नहीं हो पाई मैं...। यह महानगर, मुझे लगता है, मेरा उपहास उड़ा रहा है। यहाँ से भागकर दूसरे शहर में रहने की कोशिश भी की। पर, वहाँ भी अकेलेपन के डर ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। मैं इस डर से, अपने अकेलेपन से मुक्त होना चाहती हूँ। एक बार फिर मुझे एक फैसला लेने को विवश होना पड़ा है। अपने इसी फैसले को तुझसे....।" कहकर फिर संजना ने के.के. के चेहरे पर अपनी ऑंखें स्थिर कर दीं।

"कैसा फैसला ?" वह भी बेसब्र हो उठा था।

कुछ पलों का रेला दोनों के बीच से खामोश ही गुजर गया। के.के. को ये पल बरसों जैसे लगे। फिर जैसे एक अंधे कुएँ में से आवाज आई, "के.के., मैं विवाह करना चाहती हूँ।"

दोनों के बीच समय जैसे ठहर गया।

"विवाह ? अब ? इतने बरस बाद ?" के.के. के भीतर एक बेसब्रापन था जो उछल-उछलकर बाहर आना चाहता था। उसने किसी तरह अपने इस बेसब्रेपन को रोके रखा।

"क्या मैं जान सकता हूँ, वह खुशनसीब कौन है ?" उसके सब्र का बांध टूटा।

संजना को उत्तर देने में काफी समय लगा। शायद, वह भीतर ही भीतर अपने आप को तैयार कर रही थी। फिर, उसके अधर हल्के-से हिले, "मि. मल्होत्रा, वही जो हमारे बैंक में कैशियर हैं।"

के.के. को लगा, जैसे धरती हिली हो। जैसे एक तेज आंधी दोनों के बीच से बेआवाज गुजर गई हो।

मल्होत्रा को वह जानता था। एक-दो बार संजना के साथ वह मिला था। अधेड़ उम्र का आदमी। कई बरस पहले उसकी पत्नी कैंसर रोग से मर चुकी थी। यद्यपि संजना भी पैंतीस से ऊपर थी, पर कहाँ संजना और कहाँ मल्होत्रा !

"लगता है, तुझे मेरे इस फैसले पर खुशी नहीं हुई ?" उसे लगा, संजना ने सवाल किया है। पर नहीं, संजना ने कुछ नहीं कहा था। वह खामोश थी। बस, उसकी ऑंखों में कुछ था जो के.के. के भीतर के भावों को पढ़ लेना चाहता था। के.के. की समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि वह संजना के इस फैसले पर अपनी क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करे। पर, कुछ तो कहना ही था उसे। सोचते हुए उसने कुछ कहना चाहा, शब्द अभी उसके मुँह में ही थे कि संजना ने उसका दायां हाथ अपनी हथेलियों में लेकर नजरें झुकाये हुए कहा, "शायद, इस बार...।" इससे आगे वह कह नहीं पाई, आवाज उसके गले में ही खरखरा कर रह गई। के.के. ने अपना बायां हाथ संजना के कंधे पर रखा तो वह उसके ऊपर गिर-सी पड़ी। कुछ देर बाद, वह के.के. की छाती से अलग हुई तो संजना की ऑंखों में जलकण तैर रहे थे। एकाएक, उठते हुए संजना ने अपनी ऑंखें पोंछी और रसोई में जाकर चाय बनाने लगी।

शाम के चार बज रहे थे। बाहर बारिश भी बन्द थी। के.के. को लगा कि अब चलना चाहिए। जब वह चलने लगा तो उसने देखा, संजना के चेहरे पर धूप जैसी एक हल्की-सी चमक थी। बाहर धूप खिली हुई थी। मालूम नहीं क्यों, के.के. को यह धूप बिलकुल अच्छी न लगी। उसका दिल किया कि बहुत जोरों की बरसात हो और वह बिना छतरी खोले भीगता हुआ घर को लौटे।

जीवन का ताप

कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। उस पर पिछले कई दिनों से सूरज देवता न जाने कहाँ दुपके थे। दिनभर धूप के दर्शन न होते। रोज की तरह आज भी बिशन सिंह की ऑंख तड़के ही खुल गई, जबकि रात भर वह ठीक से सो नहीं पाया था। ऑंख खुलने के बाद फिर कहाँ नींद बिशन सिंह को। गर्मी का मौसम होता तो उठकर सुबह की सैर को चल देता। पर भीषण ठंड में किसका मन होता है बिस्तर छोड़ने का। वह उठकर बैठ गया था। उसने ठिठुरते-कांपते अपने बूढ़े शरीर के चारों ओर रजाई को अच्छी प्रकार से लपेट-खोंस कर दीवार से पीठ टिका ली थी। एक हाथ की दूरी पर सामने चारपाई पर उसकी घरवाली सुखवन्ती रजाई में मुँह-सिर लपेटे सोई पड़ी थी।

'रात भर खांसती रही बेचारी! तड़के कहीं जाकर टिकी है। कितनी बार कहा है, जो काम करवाना होता है, माई से करवा लिया कर। दो टेम आती है। पैसे देते हैं, कोई मुफ्त में काम नहीं करवाते। पर इसे चैन कहाँ ! ठंड में भी लगी रहेगी, पानी वाले काम करती रहेगी, बर्तन मांजने बैठ जाएगी, पौचा लगाने लगेगी। और नहीं तो कपड़े ही धोने बैठ जाएगी। अब पहले वाली बात तो रही नहीं। बूढ़ा शरीर है, बूढ़ा शरीर ठंड भी जल्दी पकड़ता है। पर सुखवन्ती मानती कहाँ है।' सुखवन्ती को लेकर न जाने कितनी देर अपने-आप से बुदबुदाता रहा बिशन सिंह।

रात में उठ-उठकर वह पत्नी की पीठ मलता रहा था। विक्स भी मला। सुखवन्ती को कुछ होता है तो वह खुद परेशान हो उठता है।

बाहर ऑंगन में चिड़ियों का शोर बता रहा था कि सवेरा हो चुका था। बिशन सिंह ने बैठे-बैठे वक्त का अंदाजा लगाया- सुबह के छह बजे

होंगे। बिशन सिंह का मन किया कि उठकर खिड़की खोले या ऑंगनवाला दरवाजा खोलकर बाहर देखे। पर तभी, खिड़की-दरवाजे के खोलने के विचार से ही उसके बूढ़े शरीर में ठिठुरन की लहर दौड़ गई। उसे लगा, ओढ़ी-लपेटी रजाई कहीं से उघड़ गई है। उसने फिर से अपने इर्द-गिर्द रजाई को अच्छी तरह लपेट लिया और सोचने लगा- ठंडी हवा न जाने कहाँ से कमरे में घुसी चली आ रही है। खिड़की-दरवाजे तो अच्छी तरह बन्द हैं। तभी वह चिड़ियों के बारे में सोचने लगा- इन चिड़ियों को ठंड क्यों नहीं लगती ? इस कड़कड़ाती ठंड में भी कैसे चहचहा रही हैं बाहर।

तभी, सुखवन्ती ने करवट बदली थी। करवट बदलने से रजाई एक ओर लटक गई थी जिससे उसकी पीठ नंगी हो गई। बिशन सिंह का मन हुआ कि वह सुखवन्ती को आवाज़ लगाकर जगाये और रजाई ठीक कर लेने के लिए कहे। पर कुछ सोचकर उसने ऐसा नहीं किया। इससे उसकी नींद में खलल पड़ता। बिशन सिंह ने खुद उठकर सुखवन्ती की रजाई को ठीक किया, इतनी आहिस्ता से कि सुखवन्ती जाग न जाए। जाग गई तो फिर दुबारा सोने वाली नहीं। वैसे भी सुखवन्ती, ठीक हो तो इतनी देर तक कभी नहीं सोती। चिड़ियों के चहकने पर ही बिस्तर छोड़ देती है। पर सारी रात जागकर काटी है बेचारी ने। खाँसी ने सोने ही नहीं दिया। आज इसे डॉक्टर के पास ज़रूर ले जाऊँगा, चाहे कुछ हो जाए। अपने आप तो जाने से रही। छोटा-मोटा ताप, खाँसी-जुकाम तो इसके लिए माने नहीं रखता। कहती है- यह भी कोई बीमारी है ? खुद ठीक हो जाएगी। पैसे फालतू आ रहे हैं जो डॉक्टरों की जेबें भरें ?

अब फिर वह अपने बिस्तर पर दीवार से पीठ टिकाकर बैठ गया, रजाई को अच्छी तरह ओढ़कर।

स्मृतियाँ अकेले आदमी का पीछा नहीं छोड़तीं। बूढ़े अकेले लोगों का तो ये स्मृतियाँ ही सहारा होती हैं जिनमें खोकर या जिनकी जुगाली करके वह अपने जीवन के बचे-खुचे दिन काट लेते हैं। बिशन सिंह भी अपनी यादों के समन्दर में दिन भर उतरता-डूबता रहता है। कभी जीवन के कड़वे दिन याद आते हैं तो कभी सुखभरे दिन।

सुखवन्ती ब्याह कर आई थी तो उसके घर की हालत अच्छी नहीं थी। बस, दो वक्त की रोटी बमुश्किल चलती थी। ज़मीन-जायदाद थी नहीं। गाँव में छोटा-मोटा बढ़ई का काम करता था वह, जो उनका पुश्तैनी धंधा था। पर सुखवन्ती का पैर उसके घर में क्या पड़ा कि उसके दिन फिरने लगे। उन्हीं दिनों गाँव के साथ वाले शहर में एक नया कारखाना खुला था। बिशन सिंह को वहाँ काम मिल गया। साइकिल पर सवेरे काम पर जाना और दिन ढले लौट आना गाँव में। हर महीने बंधी पगार आने से धीरे-धीरे उसके घर की हालत सुधरने लगी। कच्चा घर पक्का हो गया। भांय-भांय करता घर हर तरह की छोटी-मोटी वस्तुओं से भरने लगा। बिशन सिंह ने गाँव में ही ज़मीन का छोटा-सा टुकड़ा खरीद लिया। चार दुकानें निकाल लीं। एक अपने पास रखकर बाकी तीन किराये पर चढ़ा दीं। हर महीने बंधा किराया आने लगा। कारखाने की पगार और दुकानों का किराया, और दो जीवों का छोटा-सा परिवार। पैसे की टोर हो गयी। ख्याल तो बिशन सिंह सुखवन्ती का पहले भी रखता था, पर अब कुछ अधिक ही रखने लगा। उसकी हर ख्वाहिश पूरी करने लगा। लोग गाँव में बातें किया करते- सुखवन्ती क्या आई, बिशने के घर सुख ही सुख हो गया।

सुखवन्ती ने फिर करवट बदली। अब उसने मुँह पर से रजाई हटा ली थी। बिशन सिंह उसके चेहरे की ओर टकटकी लगाये देखता रहा।

ईश्वर ने हर चीज़ का सुख उनकी झोली में डाला था। बस, एक औलाद का सुख ही नहीं दिया। बहुत इलाज करवाया, पर कोई लाभ नहीं हुआ। सुखवन्ती चाहकर भी यह सुख बिशन सिंह को न दे पाई। लोग बिशन सिंह को समझाते-उकसाते, दूसरा विवाह करवा लेने के लिए यह कहकर कि औलाद तो बहुत ज़रूरी है, जब बुढ़ापे में हाथ-पैर नहीं चलते तब औलाद ही काम आती है। पर बिशन सिंह ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया कभी। बस, उसकी यही चाहत रही कि उसकी सुखवन्ती सुखी रहे।

इस बार, सुखवन्ती ने करवट बदली तो उसकी ऑंख खुल गई। मिचमिचाती ऑंखों से घरवाले को बिस्तर पर बैठा देखा तो वह उठ बैठी। पूछा, "क्या बात है ? तबीयत तो ठीक है ?"

"हाँ, पर तू अपनी बता। सारी रात तू सो नहीं पाई। खाँस-खाँसकर बुरा हाल रहा तेरा। आज डॉक्टर के पास चलना मेरे साथ।"

"कुछ नहीं हुआ मुझे।" सुखवन्ती ने अपना वही पुराना राग अलापा, "मामूली-सी खाँसी है, ठंड के कारण। मौसम ठीक होगा तो अपने आप ठीक हो जाएगी। पर मुझे तो लगता है, तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं। कांपे जा रहे हो।"

"बस, ठंड के कारण कांप रहा हूँ। इस बार तो ठंड ने रिकार्ड तोड़ डाला।" बिशन सिंह ने रजाई को अपने चारों ओर खोंसते हुए कहा।

"बैठे क्यों हो ? लेट जाओ बिस्तर में। मैं चाय बनाकर लाती हूँ।"

"लेटे-लेटे भी जी ऊब जाता है। धूप निकले तो बाहर धूप में बैठें। तीन दिन हो गए धूप को तरसते। पता नहीं, आज भी निकलेगी कि नहीं।"

"नहीं, अभी पड़े रहो बिस्तर में। बाहर हवा चल रही होगी। जब धूप निकलेगी तो चारपाई बिछा दूँगी बाहर।" घुटनों पर हाथ रखकर सुखवन्ती उठी और 'वाहेगुरु-वाहेगुरु' करती हुई रसोई में घुस गयी। कुछ देर बाद वह चाय का गिलास लेकर आ गई। बिशन सिंह ने गरम-गरम चाय के घूंट भरे तो ठिठुरते जिस्म में थोड़ी गरमी आई। उसने सुखवन्ती को हिदायत दी, "अब पानी में हाथ न डालना। अभी आ जाएगी माई। खुद कर लेगी सारा काम। तू भी आ जा मेरे पास, चाय का गिलास लेकर।"

सुखवन्ती ने पहले अपना बिस्तर लपेटा, चारपाई को उठाकर बरामदे में रखा और फिर अपना चाय का गिलास उठाकर बिशन सिंह के पास आ बैठी, उसी के बिस्तर में। बिशन सिंह अपनी ओढ़ी हुई रजाई को खोलते हुए बोला, "थोड़ा पास होकर बैठ मेरी रजाई में। गरमाहट बनी रहेगी।"

सुखवन्ती बिशन सिंह के करीब होकर रजाई में सिमटकर बैठी तो उसे बिशन सिंह का बदन तपता हुआ-सा लगा।

"अरे, तुम्हें तो ताप चढ़ा है।" सुखवन्ती ने तुरन्त बिशन सिंह का माथा छुआ, "तुमने बताया नहीं। रात में गोली दे देती बुखार की। आज बिस्तर में से बाहर नहीं निकलना।"

"कुछ नहीं हुआ मुझे। यूँ ही न घबराया कर।" बिशन सिंह ने चाय का बड़ा-सा घूंट भरकर कहा।

फिर, वे कितनी ही देर तक एक-दूसरे के स्पर्श का ताप महसूस करते रहे, नि:शब्द ! बस, चाय के घूंट भरने की हल्की-सी आवाज दोनों के मध्य तैरती रही, रह-रहकर।

फिर, पता नहीं सुखवन्ती के दिल में क्या आया, वह सामने शून्य में ताकती हुई बड़ी उदास आवाज में बुदबुदायी, "पता नहीं, हमने रब का क्या बिगाड़ा था। हमारी झोली में भी एक औलाद डाल देता तो क्या बिगड़ जाता उसका। बुढ़ापे में हम भी औलाद का सुख भोग लेते।"

"औलाद का सुख ?" बिशन सिंह हँसा।

सुखवन्ती ने गर्दन घुमाकर बिशन सिंह की ओर देखा। उसकी हँसी के पीछे छिपे दर्द को पकड़ने की उसने कोशिश की।

बिशन सिंह अपने दोनों हाथों के बीच चाय का गिलास दबोचे, चाय में से उठ रही भाप को घूर रहा था।

"औलाद का सुख कहाँ है सुखवन्ती। जिनके है, वह भी रोते हैं। अब चरने को ही देख ले। तीन-तीन बेटों के होते हुए भी नरक भोग रहा है। तीनों बेटे अपना-अपना हिस्सा लेकर अलग हो गए। बूढ़ा-बूढ़ी को पूछने वाला कोई नहीं।"

अपने-अपने हाथों में चाय के गिलास थामें वे खामोश हो गए।

बिशन सिंह ने ही कुछ देर के बाद इस खामोशी को भंग किया। बोला, "वो अपने परमजीत को जानती हो ? अरे वही, शिन्दर का बाप। औलाद के होते हुए भी बेऔलाद-सा है। रोटी-टुक्कड़ को तरसता। जब तक औलाद नहीं थी, औलाद-औलाद करता था। जब रब ने औलाद दी तो अब इस उम्र में कहता घूमता है- इससे तो बेऔलाद अच्छा था। सारी जायदाद बेटों ने अपने नाम करवा ली। अब पूछते नहीं। कहता है- मैं तो हाथ

कटवा बैठा हूँ। अगर रुपया-पैसा मेरे पास होता, तो सेवा के लिए कोई गरीब बंदा ही अपने पास रख लेता।"

"पर सारी औलादें ऐसी नहीं होतीं।" सुखवन्ती बिशन सिंह के बहुत करीब सटकर बैठी थी, पर बिशन सिंह को लगा, जैसे उसकी आवाज़ बहुत दूर से आ रही हो। थकी-थकी-सी !

चाय के गिलास खाली हो चुके थे। सुखवन्ती ने अपना और बिशन सिंह का गिलास झुककर चारपाई के नीचे रख दिया। उघड़ी हुई रजाई को फिर से अपने इर्दगिर्द लपेटते हुए वह कुछ और सरककर बिशन सिंह के साथ बैठ गई। बिशन सिंह ने अपना दायां बाजू सुखवन्ती के पीछे से ले जाकर उसे अपने और करीब कर लिया।

"जिन्दर ने भी हमें धोखा दिया, नहीं तो...।" कहते-कहते सुखवन्ती रुक गई।

"उसकी बात न कर, सुखवन्ती। वह मेरे भाई की औलाद था, पर मैंने तो उसे भाई की औलाद माना ही नहीं था। अपनी ही औलाद माना था उसे। सोचा था, भाई के बच्चे तंगहाली और गरीबी के चलते पढ-लिख नहीं पाए। जिन्दर को मैं पढ़ाऊँगा-लिखाऊँगा। पर..." बिशन सिंह कहते-कहते चुप हो गया।

"जब हमारे पास रहने आया था, दस-ग्यारह साल का था। कोई कमी नहीं रखी थी हमने उसकी परवरिश में। इतने साल हमने उसे अपने पास रखा। अच्छा खाने को दिया, पहनने को दिया। जब कोई आस बंधी तो उसने यह कारा कर दिखाया...।" सुखवन्ती का स्वर बेहद ठंडा था।

"सबकुछ उसी का तो था। हमारा और कौन था, जिसे हम यह सब दे जाते। जब उसने तुम्हारे गहनों पर हाथ साफ किया, तो दुःख तो बहुत हुआ था, पर सोचा था, अपने किये पर पछतायेगा।" बिशन सिंह ने सुखवन्ती का दायां हाथ अपनी दोनों हथेलियों के बीच दबाकर थपथपाते हुए कहा, "पर जब उसने दुकानें और मकान अपने नाम लिख देने की बात की तो लगा हम तो इससे झूठी आस लगाये बैठे थे। यह तो अपना कतई नहीं हो सकता।"

"अच्छा हुआ, अपने आप चला गया छोड़कर।" सुखवन्ती ने गहरा नि:श्वास लेते हुए कहा।

"सुखवन्ती, आदमी के पास जो नहीं होता, वह उसी को लेकर दु:खी होता रहता है उम्र भर। जो होता है, उसकी कद्र नहीं करता। जो हमारे पास नहीं है, उसकी हम क्यों चिन्ता करें। जो है, हम उसी का आनन्द क्यों न उठायें।" कहकर बिशन सिंह ने सुखवन्ती को अपने से सटा लिया। सुखवन्ती भी उसके सीने में मुँह छुपाकर कुछ देर पड़ी रही। यह सेक, यह ताप दोनों को एकमेक किये था। इधर बिशन सिंह ने सोचा, "जीवन का यह ताप हम दोनों में बना रहे, हमें और कुछ नहीं चाहिए" और उधर सुखवन्ती सोच रही थी, "यह तपिश...यह गरमाहट बिशन सिंह के बुखार के कारण है या फिर उसके प्यार के कारण। काश! दोनों के बीच यह गरमाहट यूँ ही बनी रहे।"

तभी, धूप का एक छोटा-सा टुकड़ा खिड़की के कांच से छनकर कमरे में कूदा और फर्श पर खरगोश की भांति बैठकर मुस्कराने लगा। सुखवन्ती हड़बड़ाकर बिशन सिंह से यूँ अलग हुई मानो किसी तीसरे ने उन दोनों को इस अवस्था में देख लिया हो !

सफ़र में आदमी

"अबे, कहाँ घुसा आ रहा है !" सिर से पांव तक गंदे भिखारीनुमा आदमी से अपने कपड़े बचाता हुआ वह लगभग चीख-सा पड़ा। उस आदमी की दशा देखकर मारे घिन्न के मन ही मन वह बुदबुदाया, "कैसे डिब्बे में चढ़ बैठा ?... अगर अर्जेन्सी न होती तो कभी भी इस डिब्बे में न चढ़ता। भले ही ट्रेन छूट जाती।"

माँ के सीरियस होने का तार उसे तब मिला, जब वह शाम सात बजे आफिस से घर लौटा। अगले दिन, राज्य में बन्द होने के कारण रेलें रद्द कर दी गई थीं और बसों के चलने की भी उम्मीद नहीं थी। अत: रात की गाड़ी पकड़ने के आवाला उसके पास कोई चारा नहीं बचा था।

एक के बाद एक स्टेशन पीछे छोड़ती ट्रेन आगे बढ़ी जा रही थी। खड़े हुए लोग आहिस्ता-आहिस्ता नीचे फर्श पर बैठने लग गए थे। कई अधलेटे-से भी हो गए थे।

"ज़ाहिल ! कैसी गंदी जगह पर लुढ़के पड़े हैं ! कपड़ों तक का ख़याल नहीं है।" नीचे फर्श पर फैले पानी, संडास के पास की दुर्गन्ध और गन्दगी के कारण उसे घिन्न-सी आ रही थी। किसी तरह भीड़ के बीच में जगह बनाते हुए आगे बढ़कर उसने डिब्बे के अन्दर झांका। अन्दर तो और भी बुरा हाल था। डिब्बा असबाब और सवारियों से खचाखच भरा था। तिल रखने तक की जगह नहीं थी।

यह सब देख, वह वहीं खड़े रहने को विवश हो गया। उसने घड़ी देखी, साढ़े दस बज रहे थे। सुबह छह बजे से पहले गाड़ी क्या लगेगी दिल्ली ! रातभर यहीं खड़े-खड़े यात्रा करनी पड़ेगी। वह सोच रहा था।

ट्रेन अंधकार को चीरती धड़ाधड़ आगे बढ़ती जा रही थी। खड़ी हुई सवारियों में से दो-चार को छोड़कर शेष सभी नीचे फर्श पर बैठर् गई थीं और आड़ी-तिरछी होकर सोने का उपक्रम कर रही थीं।

"इस हालत में भी जाने कैसे नींद आ जाती है इन्हें !" वह फिर बुदबुदाया।

ट्रेन जब अम्बाला से छूटी तो उसकी टांगों में दर्द होना आरंभ हो गया था। नीचे का गंदा, गीला फर्श उसे बैठने से रोक रहा था। वह किसी तरह खड़ा रहा और इधर-उधर की बातों को याद कर, समय को गुजारने का प्रयत्न करने लगा।

कुछ ही देर बाद, उसकी पलकें नींद के बोझ से दबने लगीं। वह आहिस्ता-आहिस्ता टांगों को मोड़कर बैठने को हुआ। लेकिन तभी अपने कपड़ों का ख़याल कर सीधा तनकर खड़ा हो गया। पर, खड़े-खड़े झपकियाँ ज्यादा जोर मारने लगीं और देखते-देखते वह भी संडास की दीवार से पीठ टिकाकर, गंदे और गीले फर्श पर अधलेटा-सा हो गया।

किसी स्टेशन पर झटके से ट्रेन रुकी तो उसकी नींद टूटी। मिचमिचाती ऑखों से उसने देखा। डिब्बे में चढ़ा एक व्यक्ति एक हाथ में ब्रीफकेश उठाये, आड़े-तिरछे लेटे लोगों के बीच से रास्ता बनाते हुए भीतर जाने की कोशिश कर रहा था। उसके समीप पहुँचने पर गंदे, गीले फर्श पर उसे यूँ अधलेटा-सा देखकर उसने नाक-भौं सिकोड़ी और बुदबुदाता हुआ आगे बढ़ गया, "ज़ाहिल ! गंदगी में भी कैसा बेपरवाह पसरा पड़ा है !"

एक और कस्बा

देहतोड़ मेहनत के बाद, रात की नींद से सुबह जब रहमत मियां की ऑ ख खुली तो उनका मन पूरे मूड में था। छुट्टी का दिन था और कल ही उन्हें पगार मिली थी। सो, आज वे पूरा दिन घर में रहकर आराम फरमाना और परिवार के साथ बैठकर कुछ उम्दा खाना खाना चाहते थे। उन्होंने बेगम को अपनी इस ख्वाहिश से रू-ब-रू करवाया। तय हुआ कि घर में आज गोश्त पकाया जाए। रहमत मियां का मूड अभी बिस्तर छोड़ने का न था, लिहाजा गोश्त लाने के लिए अपने बेटे सुक्खन को बाजार भेजना मुनासिब समझा और खुद चादर ओढ़कर फिर लेट गए।

सुक्खन थैला और पैसे लेकर जब बाजार पहुँचा, सुबह के दस बज रहे थे। कस्बे की गलियों-बाजारों में चहल-पहल थी। गोश्त लेकर जब सुक्खन लौट रहा था, उसकी नज़र ऊपर आकाश में तैरती एक कटी पतंग पर पड़ी। पीछे-पीछे, लग्गी और बांस लिये लौंडों की भीड़ शोर मचाती भागती आ रही थी। ज़मीन की ओर आते-आते पतंग ठीक सुक्खन के सिर के ऊपर चक्कर काटने लगी। उसने उछलकर उसे पकड़ने की कोशिश की, पर नाकामयाब रहा। देखते ही देखते, पतंग आगे बढ़ गई और कलाबाजियाँ खाती हुई मंदिर की बाहरी दीवार पर जा अटकी। सुक्खन दीवार के बहुत नज़दीक था। उसने हाथ में पकड़ा थैला वहीं सीढ़ियों पर पटका और फुर्ती से दीवार पर चढ़ गया। पतंग की डोर हाथ में आते ही जाने कहाँ से उसमें गज़ब की फुर्ती आई कि वह लौंडों की भीड़ को चीरता हुआ-सा बहुत दूर निकल गया, चेहरे पर विजय-भाव लिये !

काफी देर बाद, जब उसे अपने थैले का ख़याल आया तो वह मंदिर की ओर भागा। वहाँ पर कुहराम मचा था। लोगों की भीड़ लगी थी। पंडित जी चीख-चिल्ला रहे थे। गोश्त की बोटियाँ मंदिर की सीढ़ियों पर बिखरी

पड़ी थीं। उन्हें हथियाने के लिए आस-पास के आवारा कुत्ते अपनी-अपनी ताकत के अनुरूप एक-दूसरे से उलझ रहे थे।

सुक्खन आगे बढ़ने की हिम्मत न कर सका। घर लौटने पर गोश्त का यह हश्र हुआ जानकर यकीकन उसे मार पड़ती। लेकिन वहाँ खड़े रहने का खौफ भी उसे भीतर तक थर्रा गया- कहीं किसी ने उसे गोश्त का थैला मंदिर की सीढ़ियों पर पटकते देख न लिया हो ! सुक्खन ने घर में ही पनाह लेना बेहतर समझा। गलियों-बाजारों में से होता हुआ जब वह अपने घर की ओर तेजी से बढ़ रहा था, उसने देखा हर तरफ अफरा-तफरी सी मची थी, दुकानों के शटर फटाफट गिरने लगे थे, लोग बाग इस तरह भाग रहे थे मानो कस्बे में कोई खूंखार दैत्य घुस आया हो!

मकड़ियाँ

अधिक बरस नहीं बीते जब बाजार ने खुद चलकर उसके द्वार पर दस्तक दी थी। चकाचौंध से भरपूर लुभावने बाजार को देखकर वह दंग रह गया था। अवश्य बाजार को कोई गलत-फहमी हुई होगी, जो वह गलत जगह पर आ गया - उसने सोचा था। उसने बाजार को समझाने की कोशिश की थी कि यह कोई रुपये-पैसे वाले अमीर व्यक्ति का घर नहीं, बल्कि एक गरीब बाबू का घर है, जहां हर महीने बंधी-बधाई तनख्वाह आती है और बमुश्किल पूरा महीना खींच पाती है। इस पर बाजार ने हँसकर कहा था, "आप अपने आप को इतना हीन क्यों समझते हैं ? इस बाजार पर जितना रुपये-पैसों वाले अमीर लोगों का हक है, उतना ही आपका भी ? हम जो आपके लिए लाए हैं, उससे अमीर-गरीब का फर्क ही खत्म हो जाएगा।" बाजार ने जिस मोहित कर देने वाली मुस्कान में बात की थी, उसका असर इतनी तेजी से हुआ था कि वह बाजार की गिरफ्त में आने से स्वयं को बचा न सका था। अब उसकी जेब में सुनहरी कार्ड रहने लगा था। अकेले में उसे देख-देखकर वह मुग्ध होता रहता। धीरे-धीरे उसमें आत्म-विश्वास पैदा हुआ। जिन वातानुकूलित चमचमाती दुकानों में घुसने का उसके अन्दर साहस नहीं होता था, वह उनमें गर्दन ऊँची करके जाने लगा।

धीरे-धीरे घर का नक्शा बदलने लगा। सोफा, फ्रिज, रंगीन टी.वी., वाशिंग-मशीन आदि घर की शोभा बढ़ाने लगे। आस-पड़ोस और रिश्तेदारों में रुतबा बढ़ गया। घर में फोन की घंटियाँ बजने लगीं। हाथ में मोबाइल आ गया। कुछ ही समय बाद बाजार फिर उसके द्वार पर था। इस बार बाजार पहले से अधिक लुभावने रूप में था। मुफ्त कार्ड, अधिक लिमिट,

साथ में बीमा दो लाख का। जब चाहे वक्त-बेवक्त जरूरत पड़ने पर ए.टी.एम. से कैश। किसी महाजन, दोस्त-यार, रिश्तेदार के आगे हाथ फैलाने की जरूरत नहीं।

इसी बीच पत्नी भंयकर रूप से बीमार पड़ गई थी। डॉक्टर ने आप्रेशन की सलाह दी थी और दस हजार का खर्चा बता दिया था। इतने रूपये कहां थे उसके पास ? बंधे-बंधाये वेतन में से बमुश्किल गुजारा होता था। और अब तो बिलों का भुगतान भी हर माह करना पड़ता था। पर इलाज तो करवाना था। उसे चिंता सताने लगी थी। कैसे होगा ? तभी, जेब मे रखे कार्ड उछलने लगे थे, जैसे कह रहे हों- हम है न ! धन्य हो इस बाजार का! न किसी के पीछे मारे-मारे घूमने की जरूरत, न गिड़गिड़ाने की। ए.टी.एम.से रूपया निकलवाकर उसने पत्नी का आप्रेशन कराया था।

लेकिन, कुछ बरस पहले बहुत लुभावना लगने वाला बाजार अब उसे भयभीत करने लगा था। हर माह आने वाले बिलों का न्यूनतम चुकाने में ही उसकी आधी तनख्वाह खत्म हो जाती थी। इधर बच्चे बड़े हो रहे थे, उनकी पढाई का खर्च बढ़ रहा था। हारी-बीमारी अलग थी। कोई चारा न देख, आफिस के बाद वह दो घंटे पार्ट टाइम करने लगा। पर इससे अधिक राहत न मिली। बिलों का न्यूनतम ही वह अदा कर पाता था। बकाया रकम और उस पर लगने वाले ब्याज ने उसका मानसिक चैन छीन लिया था। उसकी नींद गायब कर दी थी। रात में, बमुश्किल ऑंख लगती तो सपने में जाले ही जाले दिखाई देते जिनमें वह खुद को बुरी तरह फंसा हुआ पाता।

छुट्टी का दिन था और वह घर पर था। डोर-बैल बजी तो उसने उठकर दरवाजा खोला। एक सुन्दर-सी बाला फिर उसके सामने खड़ी थी, मोहक मुस्कान बिखेरती। उसने फटाक-से दरवाजा बन्द कर दिया। उसकी सांसे तेज हो गई थीं जैसे बाहर कोई भयानक चीज देख ली हो। पत्नी ने पूछा, "क्या बात है ? इतना घबरा क्यों गए ? बाहर कौन है ?"

"मकड़ी !" कहकर वह माथे का पसीना पोंछने लगा।

चटके घड़े

"सुनो जी, बाऊजी से कहो, लैट्रिन में पानी अच्छी तरह डाला करें। भंगन की तरह मुझे रोज साफ करनी पड़ती है।"

गुड़ुप !

"बाऊजी, देखता हूँ, आप हर समय बैठक में ही पड़े रहते हैं। कभी दूसरे कमरे में भी बैठ जाया करें। इधर कभी कोई यार-दोस्त भी आ जाता है मिलने।"

गुड़ुप !

"बाऊजी, आप तो नहाते समय कितना पानी बर्बाद करते हैं। सारा बाथरूम गीला कर देते है। पता भी है, पानी की कितनी किल्लत है।"

"अम्मा, हर समय बाऊजी के साथ क्यों चिपकी रहती हो। थोड़ा मेरा हाथ भी बटा दिया करो। सुबह-शाम खटती रहती हूँ, यह नहीं कि दो बर्तन ही मांज-धो दें।"

गुड़ुप ! गुड़ुप !

"बाऊजी, यह क्या उठा लाए सड़ी-गली सब्जी ! एक काम कहा था आपसे, वह भी नहीं हुआ। नहीं होता तो मना कर देते, पैसे तो बर्बाद न होते।"

गुड़ुप!

"अम्मा, आपको भी बाऊजी की तरह कम दीखने लगा है। ये बर्तन धुले, न धुले बराबर हैं। जब दुबारा मुझे ही धोने हैं तो क्या फायदा आपसे काम करा कर। आप तो जाइए बैठिये बाऊजी के पास।"

गुड़ुप !

दिनभर शब्दों के अनेक कंकर-पत्थर बूढ़ा-बूढ़ी के मनों के शान्त और स्थिर पानियों में गिरते रहते हैं। 'गुड़ुप'-सी आवाज होती है। कुछ देर बेचैनी की लहरें उठती हैं और फिर शान्त हो जाती हैं।

रोज की तरह रात का खाना खाकर, टी.वी. पर अपना मनपसंद सीरियल देखकर बहू-बेटा और बच्चे अपने-अपने कमरे में चले गए हैं और कूलर चलाकर बत्ती बुझाकर अपने-अपने बिस्तर पर जा लेटे हैं। पर इधर न बूढ़े की ऑंखोंमें नींद है, बूढ़ी की। पंखा भी गरम हवा फेंक रहा है।

"आपने आज दवाई नहीं खाई ?"

"नहीं, वह तो दो दिन से खत्म है। राकेश से कहा तो था, शायद, याद नहीं रहा होगा।"

"क्या बात है, अपनी बांह क्यों दबा रही हो ?"

"कई दिन से दर्द रहता है।"

"लाओ, आयोडेक्स मल दूँ।"

"नहीं रहने दो।"

"नहीं, लेकर आओ। मैं मल देता हूँ, आराम आ जाएगा।"

"आयोडेक्स, उधर बेटे के कमरे में रखी है। वे सो गए हैं। रहने दीजिए।"

"ये बहू-बेटा हमें दिन भर कोंचते क्यों रहते हैं ?" बूढ़ी का स्वर धीमा और रुआंसा-सा था।

"तुम दिल पर क्यों लगाती हो। कहने दिया करो जो कहते हैं। हम तो अब चटके घड़े का पानी ठहरे। आज हैं, कल नहीं रहेगें। फेंकने दो कंकर-पत्थर। जो दिन कट जाएं, अच्छा है।"

तभी, दूसरे कमरे से एक पत्थर उछला।

"अब रात में कौन-सी रामायण बांची जा रही है बत्ती जलाकर। रात इत्ती-इत्ती देर तलक बत्ती जलेगी तो बिल ज्यादा तो आएगा ही।"

गुड़ुप !

00